धर्म क्यों ?

स्वामी पवित्रानन्द



अद्वैत आश्रम

धर्म क्यों ?

लेखक
स्वामी पवित्रानन्द

अनुवादक
स्वामी निखिलात्मानन्द



अद्वैत आश्रम
५ डिही एण्टाली रोड
कलकत्ता ७०० ०१४

प्रकाशक
स्वामी अनन्यानन्द
अध्यक्ष, अद्वैत आश्रम
मायावती, पिथोरागढ़, हिमालय

प्रथम संस्करण, जून १९८४
5M3C

मुद्रक
सौरेन्द्रनाथ दासगुप्त
सन् लिथोग्राफिन्ग क०
पी. २० सी. आइ. टी. रोड, कलकत्ता-१०

प्रकाशकीय

आधुनिक युग में मानव मन में यह प्रश्न स्वतः ही जाग उठता है कि आज जब विज्ञान जीव जगत् सम्बन्धी हमारे प्रश्नों का उत्तर दे सकता है तथा राजनीति और मनोविज्ञान हमारे जीवन की गुत्थियों को सुलझा सकती हैं तो धर्म की आवश्यकता क्यों है? पर क्या यह सम्भव हुआ है? भले ही उन्नीसवीं सदी का विज्ञान अपनी उपलब्धियों के प्रति इतना आस्वस्त था कि उसने ईश्वर के अस्तीत्व को नकार दिया था किन्तु बीसवीं सदी के विज्ञान को अपनी सीमितता का ज्ञान हुआ है तथा वह इस विश्व ब्रह्माण्ड के पीछे उसमें अनुस्यूत एक चैतन्यमयी शक्ति को मानने के लिए बाध्य हुआ है। यह शक्ति ही जिसे ईश्वर या ब्रह्म के नाम से पुकारा जाता है, धर्म का उत्स है जो युग युग से मानव को अपने रहस्य को जानने के लिए प्रेरित करती रही है। अतः धर्म की प्रयोजनीयता सार्वभौमिक और सार्वकालिक है।

प्रस्तुत पुस्तक में जो स्वामी पवित्रानन्दजी द्वारा लिखित 'Modern Man in Search of Religion' का अनुवाद है आधुनिक मन में उठनेवाले धर्म सम्बन्धी प्रश्नों का सुनियोजित समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। पुस्तक का अनुवाद रामकृष्ण मठ के स्वामी निखिलात्मानन्दजी ने निष्ठा के साथ किया है, अतः वे हमारी बधाई के पात्र हैं। रामकृष्ण मठ के ही स्वामी आत्मानन्दजी ने पाण्डुलिपि भलीभाँति देखकर कार्य में हमारी सहायता की है। हम उनके प्रति भी आभारी हैं। आशा है यह पुस्तक हिन्दी भाषाभाषी विशाल जनसमुदाय के बीच लोकप्रियता अर्जन करेगी।

प्रकाशक

भूमिका

यह कहा गया है कि मानव का इतिहास ईश्वर की एक दीर्घकालीन खोज है। पर क्या आधुनिक मनुष्य इस पर विश्वास करेगा? बहुत से क्षेत्रों में ईश्वर और धर्म के विरुद्ध मानों खुला जिहाद चल रहा है। फिर भी अधिकांश व्यक्ति वास्तव में धर्म और ईश्वर के विरोधी नहीं हैं। वे केवल 'ईश्वर' तथा 'धर्म' आदि शब्दों के वर्तमान प्रयोग के विरुद्ध हैं। दूसरे शब्दों में, वे धर्म-प्रचारकों द्वारा प्रस्तुत ईश्वर की धारणा का समर्थन नहीं कर पाते और न ही वे धर्म के उस रूप में विश्वास कर पाते हैं, जिसका आचरण हर देश के धर्मध्वजियों द्वारा किया जाता है।

जिस सर्वोच्च स्तर तक मानवता पहुँच सकती है, उसका प्रतिनिधित्व करते हुए सभी महापुरुष निरपवाद रूप से कहते हैं कि मनुष्य ईश्वर का प्रतिबिम्ब है तथा वह यथार्थतः आध्यात्मिक है। यदि बात ऐसी हो तो उसमें कोई शंका नहीं हो सकती कि मनुष्य सदा-सर्वदा के लिए अपने आध्यात्मिक स्वरूप को भूला नहीं रह सकता। एक दिन वह अवश्य अपने स्वरूप का पता लगा लेगा। किन्तु आधुनिक मनुष्य बहुत सी विरोधी शक्तियों का शिकार है जो उसके अपने आपको जानने के मार्ग पर रोड़े बनकर आती हैं। परवर्ती पृष्ठों में उन कुछ समस्याओं पर जो आधुनिक युग के मनुष्य की आध्यात्मिक दृष्टि को धुँधला कर देती हैं अथवा धुँधलेपन की ओर ले जाती हैं, चर्चा की गयी है, तथा उन सम्भावनाओं पर भी, जो शायद उनका कुछ समाधान दे सकें।

अद्वैत आश्रम
मायावती, हिमालय
७ सितम्बर १९४७

लेखक

सूची

क्या संसार अधार्मिक हो चला है ?

धर्म में रुचि रखनेवालों से यदि हम प्रश्न करें, "क्या संसार अधार्मिक हो चला है?" वे तुरन्त उसका उत्तर हमें 'हाँ' में देंगे। वे कहेंगे, "संसार दिन-प्रतिदिन अधार्मिक होता जा रहा है; तथा धार्मिक भावहीनता का घोरतम प्रदर्शन कर रहा है।" हाँ, यदि कोई आज की अवस्था को देखे तो सोच में पड़ जायेगा कि आखिर संसार जा कहाँ रहा है। गत महायुद्ध के फलस्वरूप, जिसमें अणुबम मनुष्य के भाग्य के ऊपर डैमोक्लीस की तलवार की भाँति लटका हुआ था, जिस अमानवीय और अविश्वसनीय बर्बरता का प्रदर्शन हुआ, उससे कौन साहस के साथ कह सकता है कि संसार धर्म-पथ से च्युत नहीं हो रहा है? प्रत्येक महायुद्ध नैतिक आचार-व्यवहारों में महान् क्रान्ति लाता है। चिरसम्मानित रीति-रिवाजों को चुनौती दी जाती है तथा उनका मखौल उड़ाया जाता है। प्रत्येक श्रद्धास्पद वस्तु का बिना किसी सोच-विचार के अवज्ञा करना आम बात हो गयी है। सेवा-निवृत्त अनेक सैनिक अपने को पुराने समाज के ढाँचे में बड़ी मुश्किल से ढाल पाते हैं। वे उस समाज को, जिसके कि वे एक समय सहकारी सदस्य थे, बुरी तरह झकझोर देते हैं। यह एकदम सही है कि युद्ध की अपेक्षा शान्ति की समस्याओं को हल करना कहीं अधिक कठिन है। युद्ध तो जान और माल के प्रचंड व्यय पर लड़ा जाता है; तथा इसमें उन लोगों का, जो इससे सम्बन्धित हैं, महानतम त्याग सन्निहित होता है। पर उसका परिणाम आखिर क्या होता है? लोगों को लगता है कि युद्ध के उपरान्त भी कोई शान्ति नहीं तथा जिस सुख की वे आशा कर रहे थे, वह मृग-मरीचिका के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

फिर रूढ़िवादी धर्मों के कार्यकलापों की ओर देखने पर हम पाते हैं कि उनकी अवस्था बदतर है। गिरजाघरों में लोगों की उपस्थिति बहुत कम होती है तथा दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है। लोगों को आकृष्ट करने के लिए पादरियों को संगीत तथा अन्य प्रकार के उपायों की खोज करनी पड़ रही है। वे लोगों पर प्रभाव जमाने के लिए पुरजोर गले से चिल्लाते हैं कि ईसा ने मानवता को बचाने के लिए सलीब (Cross) पर अपना

बलिदान दिया। पर स्वयं मानवता को अपने आपको बचाने की कोई उत्सुकता नहीं है। इसलिए उनकी पुकार अरण्यरोदन साबित होती है। दूसरे धर्मों के सम्बन्ध में भी यही बात है। भारत में आधुनिक शिक्षाप्राप्त कोई भी व्यक्ति पुरातन धर्म की सीखों को अपनाने के लिए उत्सुक नहीं है। वह मन्दिर में पूजा करने का साहस नहीं कर पाता, वरन् ऐसा करने की उपादेयता के बारे में आलोचना करता है। यदि वह मन्दिर में जाता है तो वह उसके धार्मिक प्रभाव की अपेक्षा उसकी ऐतिहासिकता तथा स्थापत्य-कला के बारे में अधिक उत्सुक रहता है। मन्दिर के प्रति उसका प्रेम अधिक से अधिक एक प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप होता है। चूँकि कुछ उद्धत विदेशी मन्दिर-पूजा की निन्दा करते हैं इसलिए राष्ट्रीय आत्मसम्मान की भावना से उसे इसका बचाव करना चाहिए। चीन में वही बात हो रही है। आज जो लोग आधुनिक जगत् की प्रचलित विचारधारा के सम्पर्क में हैं, उन्हें अपनी पुरातन संस्कृति अथवा जीवनप्रणाली की परवाह नहीं है।

सारे संसार में धर्म के विरुद्ध खुलेआम जिहाद का नारा बुलन्द है। कुछ लोग धर्म की उपादेयता के विरोध में तथा धर्म द्वारा मानव-समाज को पहुँचायी गति क्षति के सम्बन्ध में बड़ी सरगर्मी से चर्चा करते हैं। और ऐसा प्रतीत होता है कि उनके अनुयायियों की संख्या प्रगति पर है। आलोचना की इस उमड़ती लहर के प्रतिरोध में पुरातन पन्थी अपनी आवाज प्रभावशून्य पाते हैं। वे अपने को आधुनिक जगत् के अनुपयुक्त पाते हैं। उन्हें लगता है कि वे पुरावशेष मात्र रह गये हैं।

जब व्यक्ति ऐसा अवसादमय दृश्य देखता है तो स्वाभाविक रूप से एक दीर्घ निःश्वास ले वह पूछता है, "संसार जा कहाँ रहा है? यदि चीजें ऐसी ही होती रहीं तो मानवता के लिए फिर बाकी ही क्या रह जायेगा?" व्यक्ति को लगता है कि संसार वास्तव में अधार्मिक हो गया है और उसकी दशा दिन-ब-दिन बदतर होती जा रही है।

पर यदि कोई बीते हुए सुदूर काल का अवलोकन करे तो वह पूछ सकता है, "संसार भला अच्छा कब था?" भूतकाल मोहक लग सकता है, केवल इसलिए कि हम उसे निकटता से नहीं देख पाते हैं। चन्द्रमा दूर से इतना सुन्दर दीखता है, पर यदि हम उसके निकट जाएँ तो वह कुरूप

सिद्ध हो सकता है। वर्तमान के प्रति सतत असन्तोष की भावना यह मानव-स्वभाव की विशेषता है। जिसे हम देख नहीं पाते वह हमें सुन्दर प्रतीत होता है। इसीलिए मनुष्य बीती हुई बातों के लिए हमेशा सोच प्रकट करता है और भविष्यगत वस्तुओं के बारे में उत्सुकता-भरी दृष्टि से निहारता है। पर जब भविष्य वर्तमान का रूप लेता है तो वह अपना आकर्षण एकदम गँवा बैठता है। यह कहा गया है कि किसी वस्तु की प्राप्ति के प्रयास में आनन्द है, परन्तु जब वह वस्तु प्राप्त हो जाती है तो उसके प्रति व्यक्ति का आकर्षण चला जाता है। इसीलिए मनुष्य हमेशा दुःखी, असन्तोषी और असन्तुष्ट बना रहता है। आप किसी भी परिस्थिति के जिस किसी मनुष्य से पूछें, आपको यही उत्तर मिलेगा कि उसकी दशा भले शोचनीय न हो पर वह सुखी नहीं है; उसके अपने कष्ट हैं, जिनसे वह यथासम्भव बचना चाहता है।

यदि आप किसी भी धर्म के प्राचीन ग्रन्थों को पढ़ें तो सब जगह यही एक बात दुहरायी गयी मिलेगी, "संसार धर्म-मार्ग से च्युत हुआ था इसीलिए पैगम्बर के जन्म लेने की आवश्यकता हुई। वे मानवता को बचाने के लिए जनमे थे। बहुत से लोगों ने उनका अनुसरण किया, उनकी पूजा की तथा इस धरती में उनमें ईश्वर को पाया।" पर मानवता को बचाया न जा सका। वह अपने ही रास्ते चलती रही। वह और भी अधिकाधिक भूलें और गल्तियाँ करती रही, जब तक कि एक दूसरे महापुरुष ने आकर एक अन्य धर्म को जन्म नहीं दे दिया। और फिर दोनों धर्मों के बीच लड़ाई चली। प्रत्येक धर्म का यही दावा रहा कि मानव-समाज के हृदय में उसका ही सर्वोपरि प्रभुत्व है। यह केवल प्रागैतिहासिक काल का ही सत्य नहीं वरन् उस काल का भी सत्य है, जिसकी घटनाओं का सही सही लेखा-जोखा मौजूद है। योरप के मध्यवर्ती काल की घटनाओं को देखिए। ईसाई धर्माधिकरण (Inquisition)के द्वारा कैसी अमानवीय बर्बरता हुई। धर्म के ही नाम पर हजारों स्त्री, पुरुष और बच्चे जलाकर मार डाले गये। इनमें ज्यादा अधार्मिक कौन थे? वे जो मार डाले गये अथवा वे जिन्होंने मारा? धर्माधिकरण के पश्चात् भी स्थिति मूलतः वैसी ही रही। जब विज्ञान के आविष्कारों ने धर्म द्वारा प्रचारित और संरक्षित उन पुरातन सिद्धान्तों और

मतों का खंडन करना प्रारम्भ किया तब बड़ा हो-हल्ला मचा कि धर्म खतरे में है। पर तब धर्म के ठेकेदार उतने शक्तिशाली नहीं रह गये थे कि जिन्होंने विरोध करने की धृष्टता दिखायी उनका उत्पीड़न कर सकें।

यदि आप भारत के प्राचीन ग्रन्थों और पुराणों को पढ़ें तो देखेंगे कि उनमें जहाँ एक ओर सुन्दर आदर्श चरित्र हैं जो मानवता के गौरव में चार चाँद लगाते हैं तो दूसरी ओर ऐसे घृणित पात्र भी हैं जो आधुनिक खलनायकों को भी मात कर देंगे। इससे यह प्रदर्शित होता है कि उस गौरवमय अतीत में भी सत्प्रवृत्तियाँ और दुष्प्रवृत्तियाँ साथ साथ चला करती थीं। उस समय सन्त भी थे और पापी भी। यह बात नहीं कि सभी चीजें पूरी तरह सही थीं और न यह ही कि वे पूरी तरह गलत थीं। यदि आप सुदूर प्राचीनकाल से लेकर भारतीय इतिहास की धारा का अनुसरण करें तो पायेंगे कि प्रत्येक युग में लोगों की यह शिकायत रही है कि मानवता का भविष्य अधर में लटका हुआ है। बुद्ध ने देखा था कि उस समय का धार्मिक जीवन कर्मकाण्डों तथा बाह्य अनुष्ठानों से भरा हुआ था जिनमें से कुछ में पशुओं पर अत्यधिक अत्याचार किया जाता था। निस्संदेह कट्टरपन्थी हिन्दू लोग बुद्ध और बौद्ध धर्म के विरोधी थे, पर बुद्ध के सन्देश ने केवल अपनी शक्ति और गुरुत्व के बल पर अपने पूर्व की समस्त चीजों को उड़ा दिया। इस बात में तो कोई सन्देह नहीं कि उनके विरोधियों ने बौद्ध धर्म पर देश को जबरदस्त हानि पहुँचाने अथवा पहुँचा सकने का आरोप लगाया हो। फिर एक ऐसा भी समय आया जब बौद्ध धर्म पतन को प्राप्त हुआ और हिन्दू धर्म उत्थित हुआ। और तब बौद्धों ने हिन्दू सुधारवादियों पर शायद ऐसा ही आरोप लगाया होगा। बस, ऐसा ही चलता रहता है। भारत की लगभग सौ साल पहले की अवस्था पर दृष्टिपात कीजिए। उस समय की दशा क्या थी? अंग्रेजों ने आकर देश को जीता और उन्होंने लोगों के सामाजिक, नैतिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण में क्रान्ति-सी ला दी। और इसके साथ आगमन हुआ ईसाई धर्म का, जिसने हिन्दू धर्म के किले पर जबरदस्त आक्रमण किया। अंग्रेजी शिक्षा पाये हुए अधिकांश लोगों ने हिन्दू आचार-विचारों तथा पुरातन सिद्धान्तों और भावनाओं का खुलेआम विरोध किया तथा वे अपने ही वंशानुगत आदर्शों के प्रति विश्वासघाती बन बैठे। यदि कोई

उस समय की पुरातनपन्थी समाज की आभ्यान्तरीण कार्यप्रणाली का अध्ययन करे तो पता चलेगा कि उसकी अवस्था कोई सुखकर नहीं थी। बाल्यविवाह के हास्यास्पद तरीकों और उसकी सहगामी कुरीतियों को, बालविधवाओं तथा बहुविवाहों की दहला देनेवाली विशाल संख्या को और सड़ते हुए समाज की गिरी नैतिकता को उच्च आदर्शों से चिपके हुए एक वर्ग के लोगों की कट्टरता के साथ देखा जा सकता था। अतः एक अतिशय आदर्शवादी को छोड़ कोई नहीं कह सकता कि उस समय की सामाजिक अवस्था एक आदर्श थी।

भूतकाल की इस अत्यालोचना की दृष्टि का तात्पर्य यह नहीं है कि हमने वर्तमान की बुराइयों से आँखें मूँद ली हैं अथवा हम इस वर्तमान दशा को सुधारने के लिए जिस तत्परता और जागरूकता की आवश्यकता होती है उसके प्रति उदासीन हैं। हम जिस बात पर जोर देना चाहते हैं वह यह कि इस कथन का कोई अधिक मूल्य नहीं रह गया है कि भूतकाल की तुलना में वर्तमान की सभी बातें गलत हैं। होता यह है कि संसार के रंगमंच पर एक पीढ़ी के लोग आते हैं, वे अपना कार्य जितनी खूबी से हो सके, निभाते हैं और जब उनके रंगमंच को छोड़कर जाने की पारी आती है तब वे देखते हैं कि आनेवाली पीढ़ी उनका स्थान लेने के लिए उत्सुक है; तब उन्हें यह सोचकर भय लगता है कि जिन परम्पराओं और मूल्यों की उन्होंने प्रतिष्ठा की है वे समादृत नहीं होंगे। और इस प्रकार पुरातन और नवीन के बीच सतत का संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। यह परिलक्षित होगा कि संसार विपथ में जा रहा है ऐसा कहनेवालों में अधिकांशतः अधेड़ अथवा बूढ़े लोग होते हैं। तरुण पीढ़ी स्वभावतः ऐसा नहीं कहती। वह तो संसार को सम्पूर्णतः एक नये आधार पर गढ़ने के स्वप्नों और उत्साहों से परिपूर्ण होती है। और ऐसा करने में यदि उसे समस्त प्राचीन आचार-विचारों को, चाहे वे जितने ही शुचि-पवित्र क्यों न हो, तिलांजलि भी देनी पड़े, तो उसे कोई परवाह नहीं होती। तरुण पीढ़ी के लोगों का कहना है–"एक गिरती हुई इमारत पर यदि एक नया घर बनाना हो, तो उसे बहुत अंशों में तोड़ना आवश्यक होता है। इस पर दुःख करना अनावश्यक है। ऐसा करना तो कमजोरी का लक्षण है।" अब किस पर विश्वास करें? भविष्य का स्वप्न देखनेवाले

नवयुवकों पर अथवा अपनी आखिरी, हसरतभरी निगाहें फेंकनेवाले वृद्धों पर?

जैसे जैसे समय बीतता है, परिस्थितियाँ बदलती हैं, अवस्थाओं में परिवर्तन आता है तथा व्यक्ति भी भिन्न प्रकार से कार्य करता है। मध्य बीसवीं सदी के मनुष्य के कार्यों का निर्णय प्रागैतिहासिक काल के समाज में प्रचलित विचारों और आदर्शों के आधार पर नहीं किया जा सकता। हम आज के जीवन को उपनिषद्‌कालीन वनस्थलीस्थित आश्रम जीवन के परिप्रेक्ष्य में नहीं सोच सकते। इसका एक सामान्य कारण यह है कि आजकल वन दुर्लभ हो गये हैं। यह सोचना निरर्थक है कि हम अपने वर्तमान समाज को चार वर्णाश्रम धर्मों के पुराने कठोर दायरे के भीतर परिचालित कर सकते हैं, क्योंकि आधुनिक जीवन के दबाव से उनकी सख्त चहारदीवारी टूट चुकी है तथा दिन प्रतिदिन वे आपस में मिलकर एक होते जा रहे हैं। पुरातन आदर्श सदा की भाँति आज भी स्वस्थ, उपयोगी और लाभदायक हैं—इसे हम अस्वीकार नहीं करते। पर पुराने आदर्शों को नयी अवस्था के अनुरूप ढालना होगा। इस प्रक्रिया में भले उनका रूप बदल जाय, पर उनका वास्तविक मूल्य नहीं बदलेगा। जो लकीर के फकीर हैं, वे ही भयभीत हो कहते हैं कि संसार विनाश के गर्त में जा रहा है। पर चाहे हम पसन्द करें या न करें संसार अचल नहीं है, वह गतिमान है। वह निष्क्रियता का शिकार नहीं हुआ है। गति ही जीवन है और स्थैर्य ही मृत्यु। अतः प्राणवन्त गतिशील जगत् में परिवर्तन होना अवश्यम्भावी है। केवल कमजोर दिलवाले ही इससे भयभीत होते हैं।

यह तथ्य ही कि नये विचार और सिद्धान्त बहुत अधिक आलोचित होते हैं इस बात का सूचक है कि हम जीवित हैं तथा हम उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं। व्यक्तिगत जीवन में प्रगति का सोपान है आत्मविश्लेषण। आत्मविश्लेषण जितना अधिक होगा, उन्नति की सम्भावना उतनी ही अधिक होगी। प्रत्येक नये आन्दोलन को निर्मम विश्लेषण, आलोचना तथा परीक्षण के क्षणों से गुजरना पड़ता है। इसी से हम कह सकते हैं कि संसार सही रास्ते पर चल रहा है। तुमुल विरोध के बीच ही उसे पनपना होगा। यदि वह जीवित रहता है तो उसका एकमात्र कारण है उसका गुण, उसकी उपयोगिता और उसकी

आवश्यकता। इसे ही हम आत्मपरीक्षण और आत्मसमीक्षा के माध्यम से संसार की प्रगति की प्रक्रिया कह सकते हैं।

क्या हम प्रत्येक देश में लोगों की नैतिक और आध्यात्मिक अवनति को दूर करने के लिए अनेकों सभा-समितियों को पनपते हुए नहीं देखते हैं? भले गिरजाघर और मन्दिर लोगों की अल्प उपस्थिति का रोना रोवें, परन्तु लोगों की आध्यात्मिक ललक की तुष्टि के लिए अन्य दूसरे उपायों की माँग जबरदस्त है। हम देखते हैं कि गत पचास वर्षों में ही बहुत से ऐसे आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ है जो आध्यात्मिक कार्यकलापों से सम्बद्ध हैं। यह इस बात का प्रतीक है कि आधुनिक मानव भले धर्म के प्रति विरोध की डींग भरे, पर वह मूलतः धार्मिक है।

फिर धूर्त पैगम्बरों की भी कमी नहीं है। उनमें से प्रत्येक अपने अनुयायियों की विशाल संख्या का दावा कर सकता है। और सबसे आश्चर्य की बात यह है कि वे लोग उनमें कुछ ऐसे लोगों को सहजता से अपने चंगुल में फाँस लेते हैं जो सबसे अधिक शंकालु, आलोचक और सजग वृत्ति के होते हैं। ये बेचारे जो अपनी बुद्धि के प्रति अति विश्वासी होते हैं, अपने को मूर्खता की दयनीय स्थिति में डाल लेते हैं। अपनी शंकालु प्रकृति के कारण ऐसे लोगों को दिवा-प्रकाश में कालिमा की छाया नजर आती है। घबराहट में उन्हें लगता है कि दिन का आलोक मन्द पड़ गया है। पर हमें उन्हें अधिक दोष नहीं देना चाहिए। उनकी दयनीय स्थिति केवल इस बात को दर्शाती है कि हम अपनी आध्यात्मिक आकांक्षा को इतनी सहजता से नहीं कुचल सकते। वह अपनी पूर्णता के लिए सतत दबाव डालती रहती है। यदि हम उसे सही अवसर प्रदान नहीं करेंगे तो वह गलत रास्ता पकड़ लेगी। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि पुरानी कट्टरता का पुनः बोलबाला हो जाए। पुराने सिद्धान्तों और विश्वासों को एक नया रूप देना होगा, अन्यथा वे नयी आशाओं और आकांक्षाओं की माँगों को सन्तुष्ट नहीं कर पायेंगे और नये दृष्टिकोण के साथ कदम मिलाकर नहीं चल सकेंगे। अमेरिका के एक अत्यन्त प्रभावशाली उपदेशक ने अपने प्रारम्भिक दिनों में कहा था, "मैं अपनी जगत्-सम्बन्धी पुरानी धारणाओं को तिलांजलि दे रहा हूँ तथा एक दूसरी धारणा पोषित कर रहा हूँ जिसमें ईश्वर का कोई स्थान

नहीं है।'' तथापि वर्षों की परिपक्वता के उपरान्त जब उन्होंने अपना रविवासरीय धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया तो दो-तीन हजार निष्ठावान् लोग उनके प्रवचन को बड़ी तन्मयता से सुनते। उनकी धारणा थी कि कुमारी माता का सिद्धान्त, शास्त्रों की शाब्दिक अनुप्रेरणा का सिद्धान्त तथा यह विश्वास कि ईसा 'दीप्तमान बादलों के समूह से' लौटेंगे, अब टिक नहीं सकते। अगर यह नियम लागू कर दिया जाय कि या तो लोग इस व्याख्या को स्वीकार करें अथवा धर्म का त्याग करें तो देखा जायगा कि इस पीढ़ी के कुछ श्रेष्ठ निष्ठावान् लोग ईसाई धर्म से निकल जायेंगे। यह तथ्य कि गिरजा तथा समानधर्मी संस्थाएँ नापसन्द की जा रही हैं, इस बात को सिद्ध करता है कि वे आधुनिक जरूरतों को पूरा नहीं कर पा रही हैं। हाथ कंगन को आरसी की आवश्यकता नहीं होती। यदि धर्म की उपयोगिता हो तो उसके प्रचार की आवश्यकता नहीं है। लोग अपनी ही आवश्यकताओं से इसे संसार के जिस किसी भी कोने से ढूँढ़ निकालेंगे। असल बात यह है कि जो धर्म के बारे में इतनी चर्चा करते हैं, वे नहीं जानते कि धर्म क्या है। वे नकली माल का सौदा करते हैं और इसीलिए लोगों को आकर्षित नहीं कर पाते। अतः उनके दुःखित अथवा हताश होने की कोई बात नहीं है।

क्या अनजाने में ही बहुत से लोग धार्मिक नहीं होते? अनेक लोग जो कट्टर धर्मों की चहारदीवारी के बाहर होते हैं, अपने उन बन्धुओं की अपेक्षा जो धार्मिकता का लबादा ओढ़े रहते हैं, कहीं अच्छा जीवन बिताते हैं। एक वृक्ष का निर्णय उसके फलों से किया जाना चाहिए। धार्मिक जीवन वास्तव में अत्यन्त औपचारिकता के साथ नियमित रूप से गिरजाघरों में जाने में नहीं है और न ही धार्मिक अनुष्ठानों की कठोर दिनचर्या के पालन में ही है, अपितु वह है चरित्र में, हृदय की पवित्रता में, सेवा की भावना में तथा आवश्यकता पड़ने पर आदर्श के लिए अपने सर्वस्व को बलिदान देने की तत्परता में। इस मापदण्ड द्वारा जाँचकर क्या हम कह सकते हैं कि संसार ऐसे लोगों से एकदम रहित हो गया है? क्या हम प्रत्येक देश में ऐसे लोगों को नहीं पाते जो अपने उदात्त चरित्र के द्वारा अपने अनुयायियों की एक बड़ी संख्या को आकर्षित करते हैं?

जो लोग खुले तौर पर यह कहते हैं कि संसार अधार्मिक होता जा रहा

है, वे भूल जाते हैं कि संसार के पीछे की शक्ति गिरजाघर की ईटें और सीमेन्ट नहीं हैं और न ही मस्जिदों और मन्दिरों की सुन्दरता और भव्यता है वरन् वह साक्षात ईश्वर है। उसकी आँखे सब कुछ देखती हैं। अपनी सृष्टि को राह दिखाना वह अच्छी तरह जानता है। बाह्य दृश्यमान बुराइयों की ओट में अच्छाइयों के बीज विद्यमान हो सकते हैं।

समुद्र में ज्वार-भाटा आता है। चन्द्रमा की कलाएँ घटती-बढ़ती रहती हैं। जीवन में भी उत्थान-पतन घटित होते रहते हैं। यही बात मानवता के इतिहास के सम्बन्ध में भी सही है। मानवता को लम्बा सफर तय करना है। कभी हो सकता है कि प्रगति स्पष्ट रूप से परिलक्षित न हो, कभी ऐसा भी लगता है कि प्रगति गलत दिशा में हो रही है, पर चाहे भूलों से हो अथवा त्रुटियों से, वह आगे ही बढ़ रही है, अपने अन्तिम लक्ष्य की ओर ही अग्रसर हो रही है। इसे अस्वीकार करना ईश्वर के अस्तित्व को ही नकारना है और यही मानों धर्महीनता की पक्की निशानी है।

विज्ञान के प्रति श्रद्धा

धर्म का सर्वाधिक विरोध यदि किसी से है तो वह विज्ञान से। विज्ञान वीक्षण और परीक्षण पर निर्भर करता है। वह प्रत्यक्ष अनुभूति पर विश्वास करता है। प्रयोगशाला में परीक्षारत वैज्ञानिक ईश्वर का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं पाता। वह दूरबीन से आकाश की छानबीन करता है तथा अणु की बड़ी सूक्ष्मता से जाँच-पड़ताल करता है, पर उसे उसमें कहीं ईश्वर का अता-पता नहीं चलता। इसलिए वह बड़े विश्वास और साहस के साथ यह घोषणा कर देता है कि ईश्वर की प्राप्ति कहीं भी सम्भव नहीं है; उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है और उस पर विश्वास करना कोरी कल्पना है, महज एक प्रकार का अन्धविश्वास है। और विज्ञान ने आधुनिक मन पर ऐसा जबरदस्त प्रभाव डाला है कि अधिकांश लोग इसे सत्य मान लेते हैं। उनकी धारणा है कि चूँकि वैज्ञानिक ने ऐसा कहा है इसलिए यह असत्य नहीं हो सकता। वे भूल जाते हैं कि वैज्ञानिक भी आखिरकार एक मनुष्य है और अन्य व्यक्तियों की भाँति उससे भी भूलें होना सम्भव है। मानव-समाज का अधिकांश भाग इस सत्य को मद्देनज़र नहीं रख पाता कि बहुत से वैज्ञानिक सिद्धान्त जो एक समय अकाट्य समझे जाते थे, अब अस्वीकृत कर दिये गये हैं। गणित के क्षेत्र में दो हजार वर्षों तक राज्य करनेवाले यूक्लिड को आज पुरजोर चुनौती दी जा रही है। आज की धारणा यह है कि यूक्लिड की ज्यामिति के अतिरिक्त अन्य प्रकार की ज्यामितियाँ भी सम्भव हैं। न्यूटन के सिद्धान्त जो कि वैज्ञानिक गवेषणा के अनेक क्षेत्रों में आधारस्वरूप थे, अब अपर्याप्त समझे जा रहे हैं। वैज्ञानिक क्षेत्रों में कार्यरत लोग खुला मस्तिष्क रखते हैं तथा ये वैज्ञानिक प्रशंसा के पात्र है, क्योंकि उनके लिए कोई भी सिद्धान्त अलंघनीय नहीं है तथा कोई भी मनुष्य, चाहे वह कितना भी प्रतिभासम्पन्न क्यों न हो, सामान्य व्यक्ति की कमजोरियों से रहित नहीं है। हर व्यक्ति को एक-दो बार नहीं सदा-सर्वदा चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। यदि वह सफल होता है तभी उसके शब्दों पर विश्वास किया जाता है, अन्यथा नहीं। भले ही उसके सिद्धान्त सैकड़ों,

हजारों वर्षों से सत्य माने जाते हों, पर आज वे अस्वीकृत हो सकते हैं। लेकिन एक सामान्य व्यक्ति वैज्ञानिक जगत् के आन्तरिक कार्यकलापों को जानने की परवाह नहीं करता। उसके लिए तो जो कुछ भी वैज्ञानिक सत्य के रूप में प्रचारित होता है, चिरकाल का सत्य हो जाता है। विज्ञान के प्रति उसकी सम्भ्रमपूर्ण दृष्टि होती है और इसलिए उसकी धारणा बन जाती है कि वैज्ञानिक जो भी कहता है, वह गलत नहीं हो सकता। यही कारण है कि धर्म के सम्बन्ध में विज्ञान की धारणा ने बहुतों का विश्वास ईश्वर और धर्म पर से डगमगा दिया है।

विज्ञान की व्यावहारिक उपयोगिता इस जीवन में ही है जबकि धर्म मरणोत्तर जीवन में लाभ की बात करता है। बहुतों के लिए धार्मिक अनुष्ठानों का तात्पर्य है परवर्ती जीवन के आनन्द के लिए मानों बीमा की किस्तें पटाना। अदृष्ट का भय इस जीवन में उनसे कुछ पुण्य कार्य करा लेता है, पर उसका परिणाम इस संसार में दिखायी नहीं पड़ता। लेकिन विज्ञान मानव-समाज की सेवा में जो भूमिका निभाता है वह इस प्रकार की नहीं है; वह तो दृश्यमान और अनुभवगम्य है तथा उसका प्रभाव भी शीघ्र दिखायी पड़ता है। विज्ञान मनुष्य के लिए नित्य नूतन और विस्तृत आयाम खोले दे रहा है तथा विपुल सुख-सुविधाओं के दाता के रूप में उसकी मानवजाति की सेवा भी अपार है। विज्ञान शक्ति है। विज्ञान की सहायता से मनुष्य अधिकाधिक शक्तिसम्पन्न होता जा रहा है– यहाँ तक कि वह अपने सृष्टिकर्ता को ही नकारने का साहस दिखा रहा है। जब विज्ञान का उपयोग ध्वंसात्मक कार्यों के लिए किया जाता है, तब भी उसकी प्रचण्ड शक्ति व्यक्त होती है। परमाणु बम ने सारे संसार को भयाक्रान्त कर रखा है। यह एक कैसा महान् आविष्कार है! एक सूक्ष्म अदृश्य परमाणु से इतनी शक्ति की उत्पत्ति! विज्ञान की सेवा की तुलना में धर्म की उपादेयता इस ऐहिक जगत् के लिए नगण्य प्रतीत होती है। जब हमारे वर्तमान जीवन की दुर्धर्ष समस्याएँ ही हल न हो पायें तो परवर्ती जीवन के सुख-शान्ति की चर्चा से भला क्या लाभ? विज्ञान हमारी नित्य की कठिनाइयों को दूर करने में बड़ी मदद देता है। इसीलिए विज्ञान ने मनुष्य का महान् विश्वास अर्जित किया है। यदि उसके एक-दो सिद्धान्त यहाँ-वहाँ गलत ही साबित हों तो उससे क्या आता-जाता है?

ग्रहों की गति समझाने में यदि गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त अधूरा सिद्ध होता है, तो उससे भला क्या अन्तर पड़ेगा? व्यक्ति दूरबीन से एक तारे को देख लेता है, जिसे वह खुली आँख से नहीं देख पाता। यह एक बड़ा चमत्कार है। कल्पना कीजिए, जिस व्यक्ति ने पहली बार दूरबीन का प्रयोग किया होगा, उसे कितना आश्चर्य न हुआ होगा! जब व्यक्ति विज्ञान को अलाद्दीन के चिराग की भाँति चमत्कार दिखाते पाता है तो वह भला धर्म की परवाह क्यों करने लगा, जो केवल दैवी चमत्कार और अनुभवों की चर्चा करता है?

परन्तु विज्ञान और धर्म के सम्बन्ध के बारे में चर्चाएँ बहुत होती रही हैं। विज्ञान और धर्म के बीच भला सम्बन्ध क्यों कर हो? एक का क्षेत्र दूसरे से बिल्कुल भिन्न है। विज्ञान और धर्म समानान्तर दिशाओं में चलते हैं। उनमें मिलन हो ऐसी कोई बात नहीं। यह सत्य है कि अनेक लोग धर्म के प्रति कोई रुचि न रखते हुए विज्ञान के प्रति अटूट आस्था रखते हैं। परन्तु धर्म और विज्ञान परस्पर-विरोधी वस्तुएँ नहीं हैं। दो वस्तुओं की तुलना तब होती है जब दोनों एक ही वर्ग की हों। पर जब दोनों वस्तुएँ सर्वथा भिन्न श्रेणी की हों तब भला दोनों में कोई तुलना हो सकती है?

विज्ञान का सम्बन्ध बाह्य प्रकृति के कार्यकलापों से है जबकि धर्म व्यक्ति के आभ्यन्तरीण जगत् की चर्चा करता है। विज्ञान बाह्य प्रकृति के उद्घाटन में संलग्न है जबकि धर्म मनुष्य की अन्तःप्रकृति के नियमों के अध्ययन में रत है। फिर इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में चर्चा कैसे की जा सकती है? मनुष्य की धारणा में विज्ञान का पलड़ा भारी बैठता है, क्योंकि विज्ञान के आविष्कार इन्द्रियग्राह्य और उल्लेखनीय हैं जबकि धर्म के अन्वेषणों को प्रयोग के द्वारा नहीं, अनुभव से जाना जाता है। उन्हें विषयपरक दृष्टि से दर्शकों के सामने प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। फिर भी धर्म के आविष्कार विज्ञान के आविष्कारों की तुलना में यदि अधिक नहीं तो उतने ही सत्य अवश्य हैं। और इस दृष्टि से धर्म भी एक विज्ञान है, विज्ञान का मूलभूत आधार यह है कि वह किसी व्यक्ति अथवा जातिविशेष को स्वीकार नहीं करता। कोई भी व्यक्ति अपने तई प्रयोग करके वैज्ञानिक द्वारा आविष्कृत सत्य की परीक्षा कर सकता है।

विज्ञान व्यक्तिपूजक नहीं है। यदि वैज्ञानिक कहे कि उसके द्वारा अन्वेषित सत्य दूसरे के लिए बन्द पुस्तक है तो उसकी गणना जादूगरों की श्रेणी में होगी। ऐसी स्थिति में एक वैज्ञानिक और जादूगर में कोई अन्तर नहीं रहा। विज्ञान ने इतना विश्वास इसीलिए अर्जित किया है कि विज्ञान एक खुली किताब है। उसमें गोपनीयता के लिए कोई स्थान नहीं तथा वह सब समय हर प्रकार के प्रयोग तथा परीक्षण के लिए प्रस्तुत है।

सच्चे धर्म के साथ भी यही बात है। कोई भी सच्चा पैगम्बर नहीं कहता, "मैंने सत्य को जाना है पर तुम अधम लोग उसे नहीं जान सकते।" इसके विपरीत, पैगम्बर की महानता इस तथ्य में है कि वह सर्वोच्च सत्य को प्रत्येक व्यक्ति के द्वार पर उतार लाता है। वह कहता है, "थके-माँदे लोगो, मेरे पास आओ, मैं तुम्हें आराम दूँगा।" जो महापुरुष होता है उसमें अपने अन्वेषण से प्राप्त उपलब्धि और धन्यता को हर मनुष्य के बीच, बिना ऊँच-नीच, अमीर-गरीब या सन्त-पापी का भेद किये, बाँट देने की आश्चर्यजनक व्याकुलता होती है। वास्तव में ये महापुरुष आध्यात्मिकता के क्षेत्र में जितने ऊपर पहुँचे हुए होते हैं, दुःखित मानवता के प्रति उनकी सहानुभूति और पीड़ा उतनी ही तीव्रतर होती है। कोई भी महापुरुष हमें किसी वस्तु को इसलिए स्वीकार करने नहीं कहता कि वह स्वयं उसे सत्य मानता है। वह तो यही कहता है, "अपने तईं प्रयोग करो, तुम अवश्य उसी निष्कर्ष पर पहुँचोगे। तब तुम्हारा विश्वास दृढ़ होगा तथा तुम्हारी धारणा की जड़ें गहरी होंगी।" आध्यात्मिक सत्यों के सम्बन्ध में एकमात्र कठिनाई यह है कि वे अनुभवगम्य हैं तथा उन्हें व्यक्ति को अपने हृदय की अन्तरतम गहराइयों में अनुभव करना पड़ता है। व्यक्ति को अपने तईं जानना होता है। आध्यात्मिक सत्य स्वसंवेद्य हैं– अपरोक्षानुभूति-सापेक्ष हैं। एकमात्र अन्वेषक ही जान पाता है कि उसने उन सत्यों की अनुभूति की है। दूसरे लोग उस अन्वेषण का केवल परोक्ष प्रभाव ही उसके जीवन और व्यवहार में निःस्वार्थ प्रेम, सभी के प्रति असीम सहानुभूति तथा सर्वोपरि अपने चतुर्दिक शान्ति और दिव्यानन्द बिखेरने की शक्ति के रूप में देख पाते हैं।

आध्यात्मिक सत्यों का तात्पर्य तथाकथित ज्ञान से नहीं है। वे बाहर

से नहीं आते वरन् भीतर से ही प्रकट होते हैं तथा व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को परिवर्तित कर देते हैं। धर्म का अर्थ है सत्य को जानना और तद्रूप हो जाना। आध्यात्मिक जीवन के नियम सत्य हैं तथा सभी काल और सभी देशों के लिए सत्य हैं। उनके बारे में कोई रहस्यमयता नहीं है। कोई भी व्यक्ति उनकी परीक्षा कर सकता है, बशर्ते वह आवश्यक नियमों का पालन करने के लिए प्रस्तुत हो। वैज्ञानिक सत्यों का ज्ञान बुद्धि के द्वारा होता है जबकि आध्यात्मिक सत्यों की अनुभूति आन्तरिक संयम के द्वारा। ये सभी के लिए खुले हैं। पर जहाँ वैज्ञानिक सत्य हजारों वर्षों के उपरान्त भी नये तथ्यों की प्राप्ति से नष्ट होते पाये गये हैं, वहाँ कोई भी आध्यात्मिक सत्य काल की कसौटी पर अनुत्तीर्ण नहीं हुआ है। सभी युगों और देशों के महापुरुष एक ही बात कहते हैं– भले ही उनके शब्द और व्यक्त करने की प्रणाली भिन्न भिन्न हो। एक सरल से उदाहरण को लें–"ईश्वर व्याकुल हृदय की आन्तरिक प्रार्थना सुनता है।" बहुत से महापुरुषों ने यही बात कही है। आज के महापुरुष भी उसी बात को दुहराते हैं– पर हाँ, उसे अपनी व्यक्तिगत आस्था का एक नया बल प्रदान करके। आम आदमी को इन शब्दों में विश्वास हो सकता है, पर यदि कोई व्यक्ति खुले मस्तिष्क से अपने तईं इसकी परीक्षा करे तो वह इस कथन की सत्यता को अनुभव करता है। अनादि काल से हजारों व्यक्तियों ने इस सत्य को जाना है तथा सिद्ध किया है। भले ही वे दूसरी चीजों पर अविश्वास करें, पर इसे अस्वीकार करना उनके लिए कठिन होगा, क्योंकि उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से इस सत्य की अनुभूति की है। एक अपरोक्ष अनुभूति कितने ही सिद्धान्तों और कल्पनाओं का सामना कर सकती है। महापुरुषगण यही कहते हैं, "तुम यह विशिष्ट तरीका अपनाओ और तुम्हें हमारे कथनों पर विश्वास हो जायगा।" मुश्किल यह है कि सामान्य लोग सन्तों के उपदेशों को बुद्धि की तराजू पर तौलना चाहते हैं। पर इस क्षेत्र में बुद्धि लाभकारी नहीं है। विज्ञान के क्षेत्र में भी किसी भी प्रदत्त वस्तु की जानकारी के लिए विशिष्ट उपकरण आवश्यक होते हैं। आप एक माइक्रोस्कोप से सुदूर स्थित तारे को नहीं देख सकते और न सर्जन की छुरी से मलेरिया के कीटाणुओं को ही पकड़ सकते हैं। उसी प्रकार बुद्धि की सहायता से, चाहे वह कितनी ही तीक्ष्ण क्यों न हो,

आप आध्यात्मिक सत्यों की परीक्षा नहीं कर सकते। उसके लिए आवश्यक है आन्तरिक संयम। पर ऐसे बिरले ही लोग होते हैं जो इस शर्त को पूरा कर सकें तथा सही निष्कर्ष पर पहुँच सकें।

इस सत्य को किसी प्रकार अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि धार्मिकता का जामा ओढ़े हुए धूर्तों और धोखेबाजों की कमी नहीं है। और न इसे ही अनदेखा किया जा सकता है कि बहुत सी बातें जो धर्म के नाम पर हो रही हैं उनका धर्म से कोई सच्चा सम्बन्ध नहीं है। वे अधिक से अधिक यथार्थ धर्म का बाह्य रूप हो सकती हैं, जो आध्यात्मिक जीवन में साधक की प्रगति के साथ साथ अपने आप ही महत्त्वहीन हो जाती हैं। धर्म से हमारा तात्पर्य ऐसे आध्यात्मिक सत्य-समूह से है जो काल की कसौटी पर खरा साबित हुआ है, तथा जो सच्चे धार्मिक व्यक्तियों की अपरोक्ष अनुभूतियाँ है। बेईमान व्यक्ति तो जीवन के हर क्षेत्र में मिलते हैं, पर नकली सिक्के यही दर्शाते हैं कि असली सिक्के भी विद्यमान हैं।

इस विषय में विज्ञान ने धर्म के निमित्त महान् सेवा की है। उसने धर्म के क्षेत्र में पैठे हुए समस्त ढोंग, पाखण्ड और कपटता का निर्ममता के साथ पर्दाफाश किया है और अब भी कर रहा है। प्रत्येक धर्म में कुछ मूलभूत वस्तुएँ होती हैं और उनके चारों ओर बहुत सी ऐसी वस्तुएँ पनप जाती हैं जिनका धर्म से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता तथा जो दार्शनिक और बौद्धिक छानबीन के सामने तनिक भी नहीं टिक पातीं। वहाँ वे मानों जनप्रिय कल्पना पर अधिकार जमाने अथवा अशिक्षित लोगों का नेतृत्व करने के लिए होती हैं। परन्तु समय के साथ साथ ये अनावश्यक वस्तुएँ असामान्य रूप से प्राधान्य लाभ कर लेती हैं तथा मूलभूत तत्त्वों को हटाकर एक कोने में ढकेल देती है। ईसाई धर्म की मोहकता और शक्ति 'शैलोपदेश' में निहित है, न कि सृष्टि-सिद्धान्त में और न ही पुनरुज्जीवन की धारणा अथवा संसार के एकमात्र उद्धारकर्ता के रूप में ईसा के देवत्वारोपण आदि में। 'शैलोपदेश' अनन्तकाल के लिए मानवता के लिए एक गौरवपूर्ण पैतृक सम्पत्ति है। परन्तु बहुत से ईसाई धर्मवेत्ता ईसा के जीवन के सम्बन्ध में अपने थोथे सिद्धान्तों का ताना-बाना बुनने में ही व्यस्त रहते हैं जिसके फलस्वरूप बहुत से स्वस्थमना लोग गिरजे से

विमुख हो जाते हैं। आध्यात्मिक अथवा अध्यात्ममना व्यक्ति सदैव संसार की मूल्यवान् धरोहर रहे हैं, परन्तु धर्मोपदेशकगण लाभ की अपेक्षा नुकसान अधिक पहुँचाते हैं। अपने धर्मों की रक्षा करने तथा अपने पैगम्बरों को गौरवान्वित करने के उत्साह में वे ऐसी दीवारें खड़ी कर देते हैं जो धर्म में अभिरुचि रखनेवाले व्यक्तियों का मार्ग ही अवरुद्ध कर देती हैं।

विज्ञान की प्रगति के फलस्वरूप जब ईसाई धर्मवेत्ताओं के थोथे सिद्धान्तों का एक के बाद एक पर्दाफाश होने लगा तो वे भयभीत हुए तथा उन्होंने 'धर्म खतरे में है' का नारा बुलन्द किया। बाइबिल का सृष्टि सम्बन्धी सिद्धान्त कि सृष्टि की उत्पत्ति ईश्वर के आदेश से शून्य से हुई, किसी प्रकार भी आधुनिक विज्ञान के आविष्कारों के सामने ठहर नहीं सकता। केवल वे ही लोग ऐसे पुराने सिद्धान्तों को पकड़े रहेंगे जिन्होंने जान-बूझकर अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली है। परन्तु फिर भी यदि ये सारे सिद्धान्त नष्ट हो जाते हैं, असली ईसाइयत सुरक्षित रहेगी। ईसा का सन्देश संसार में बिना किसी जाति या धर्म के विचार के लोगों को सर्वत्र प्रेरणा देता रहेगा।

अन्य सभी धर्मों के सम्बन्ध में यही बात है। हिन्दुओं की पौराणिक कथाओं में ऐसी बहुत सी बातें हैं जिन पर आधुनिक मन के लिए विश्वास कर पाना कठिन है। परन्तु उससे उन कथाओं के नैतिक सौन्दर्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। भले कोई यह विश्वास न करे कि रावण के दस सिर अथवा बीस भुजाएँ थीं अथवा हनुमान् की मीलों लम्बी पूँछ थी, पर यह तो मानना होगा कि राम और सीता के चरित्र अनुपम हैं। ये बातें दत्तचित्त से रामायण का पाठ करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के भीतर शक्ति, सान्त्वना और शान्ति का संचार करेंगी। वेदों में ही बहुत सी ऐसी बातें हैं जो आधुनिक मन को निरर्थक प्रतीत होती हैं। पर वेदों के आध्यात्मिक सन्देश की अप्रतिमता को क्या कोई अस्वीकार कर सकता है? वेदों में यह वर्णित है कि नश्वर जीव के लिए परम आध्यात्मिक उच्चता की प्राप्ति सम्भव है। परन्तु धर्ममीमांसक इसे स्वीकार नहीं करेंगे। वे प्रत्येक अनावश्यक वस्तु की उधेड़बुन में लगे रहते हैं और अन्त में पाते हैं कि धर्म का वास्तविक स्वरूप ही लुप्त हो गया है। यह भी

नहीं कहा जा सकता अत्यन्त उच्च आध्यात्मिक स्तर पर आरूढ़ एक महापुरुष जागतिक वस्तुओं के बारे में भी चूड़ान्त ज्ञान रखता है। ईसा अच्छी तरह जानते रहे होंगे कि संसार में ईश्वर की इच्छा ही पूर्ण होती है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वे पूरी बारीकी के साथ यह भी जानते थे कि यह संसार कैसे अस्तित्व में आया, ग्रह कैसे अपने तारों की परिक्रमा करते हैं अथवा एक क्षुद्र अदृश्य पदार्थ–उस अणु या परमाणु के भीतर का रहस्य क्या है? लोग इन बातों को लेकर उलझन में पड़ते हैं। वे अपने श्रद्धेय सन्तों तथा पूजनीय अवतारों के ज्ञान की कोई भी सीमा मानने के अनिच्छुक होते हैं। और इसीलिए वे दुःखी होते हैं, या फिर बहुत दिनों के पश्चात् उनका मोह टूट जाता है। एक महापुरुष की भक्त शिष्या ने अपने गुरुदेव के सम्बन्ध में कहा था, "जहाँ तक आध्यात्मिक बातों का सम्बन्ध है, मैं उनके प्रति शरणापन्न होती हूँ और निर्विवाद उनकी आज्ञा का पालन करती हूँ, परन्तु जब मुझे किसी सांसारिक वस्तु का निर्णय लेना होता है तब मैं अपनी सामान्य बुद्धि का प्रयोग करती हूँ।" यह एक अत्यन्त बुद्धियुक्त और सन्तुलित दृष्टि है। आध्यात्मिक गुरु को ऐसे स्तर पर नहीं उतारना चाहिए जिससे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है और इस प्रकार उनके साथ खिलवाड़ नहीं करनी चाहिए।

धर्म-जगत् के बहुत से भ्रान्त सिद्धान्तों का पर्दाफाश करने के अलावे विज्ञान ने मानवता को एक दूसरा महान् वरदान दिया है; और वह है–'वैज्ञानिक दृष्टि'। इसका तात्पर्य है–अपने तईं प्रयोग करो और किसी भी सिद्धान्त की सत्यता स्वयं परखो। किसी भी वस्तु को इसलिए न मान लो कि वह अमुक अमुक महापुरुष द्वारा कही गई है। परन्तु अपने स्वयं के निर्णय और बुद्धि का प्रयोग करो और उसकी सत्यता जानने का प्रयास करो। यह सत्य है कि आध्यात्मिक धरातल पर बुद्धि का कोई स्थान नहीं है। बुद्धि अधिक दूरी तक व्यक्ति को नहीं ले जा पाती। परन्तु उपर्युक्त मनोवृत्ति व्यक्ति को बहुत से खतरों, विपदाओं तथा धूर्त, धोखेबाज तथा धर्मान्धों से बचा सकती है। यह व्यक्ति की नैतिक शक्ति को दृढ़ बनाती है तथा उसकी आध्यात्मिक क्षुधा को तेज करती है और अधिक आश्चर्य की बात यह है कि यह व्यक्ति की ईश्वर-भक्ति को भी बढ़ाती है। धार्मिक जगत् में यह धारणा है कि बुद्धि आध्यात्मिक जीवन

के लिए लाभदायक नहीं है; धर्म के क्षेत्र में उन्नति करने के लिए व्यक्ति में विश्वास, भक्ति और शरणागति का होना ही अत्यावश्यक है। अवश्य यह बात उस व्यक्ति के लिए सही है जिसके पैर दृढ़ता के साथ आध्यात्मिक जीवन में जम गए हैं। परन्तु इससे पूर्व ही यदि कोई बुद्धि के मार्गदर्शन का परित्याग कर देता है तो उसका जीवन कर्ण विहीन जहाज की भाँति हो जायगा। विज्ञान इस सम्बन्ध में गहरी चेतावनी देता है तथा वह बहुत से लोगों को नकली धर्म के गर्त में गिरने से बचाने में समर्थ भी हुआ है।

विज्ञान के पर्याप्त मात्रा में विकसित होने तथा उसके आक्रामक और स्वाग्रही होने के पूर्व धर्म उस क्षेत्र का स्वामी था जहाँ आज विज्ञान ने कदम रखे हैं। प्राचीनकाल में प्रायः सर्वत्र लोगों का यही विश्वास था कि शैतान ही रोगों की उत्पत्ति करता है और उनका निदान पुरोहितगण करते हैं। बीमारी के समय व्यक्ति भौतिक वस्तुओं की अपेक्षा दैवी उपायों पर अधिक अवलम्बित रहता था। परन्तु धीरे धीरे चिकित्सा-विज्ञान विकसित होने लगा। आजकल बीमार होने पर अधिकांश लोग पादरियों के शरणापन्न होने के स्थान पर डाक्टरों के पास जाते हैं। हमने 'अधिकांश लोग' इसलिए कहा क्योंकि अभी भी ऐसे लोग पाये जाते हैं जो रोग, बीमारी तथा शारीरिक कष्टों के इलाज के लिए जादू-टोना, झाड़-फूँक अथवा मन्त्रविद्या की क्षमता पर विश्वास करते हैं। फिर मनोचिकित्सा, विचार-चिकित्सा तथा क्रिश्चियन साइन्स जैसी कुछ छद्म धार्मिक संस्थाएँ भी हैं जिनके बारे में यह कहना मुश्किल है कि वे धर्म हैं अथवा विज्ञान। अधिक से अधिक वे उस भावधारा की स्मृतिचिह्न् मात्र हैं जो मानवीय बुद्धि और प्रयासों की अपेक्षा दैवी उपायों पर निर्भर करती है। पर फिर भी धर्म के श्रेत्र में ऐसे साहसी और दृढ़ व्यक्ति हैं जो आध्यात्मिक शक्ति को भौतिक उपलब्धियों के उपयोग में लाने के विरोधी हैं। उनके अनुसार आध्यात्मिक निदान का उपयोग आध्यात्मिक कार्यों के लिए तथा भौतिक उपायों का उपयोग भौतिक उपलब्धियों के लिए होना चाहिए। जब औषध की एक सामान्य खुराक से हमारी बीमारी दूर हो सकती है तो उसके इलाज के लिए ईश्वर को पुकारने (और उन्हें कष्ट देनेकी) क्या आवश्यकता? निःसन्देह ऐसे व्यक्ति धार्मिक लोगों

में सबसे अधिक साहसी और विवेकी हैं। पर बहुत से लोग जब दीर्घकाल तक कष्ट भोगते हैं अथवा ऐसी परिस्थिति के सम्मुखीन होते हैं जो मानवीय चेष्टाओं से परे है तो वे मानवीय दुर्बलताओं के सामने घुटने टेक देते हैं। परन्तु ऐसी मनोवृत्ति का धर्म के स्थायित्व पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। जब बीसवीं सदी का मानव देखता है कि उसके पूर्वज बीमारी दूर करने के लिए, जिसे अब वह स्वयं सहजता से दूर कर ले सकता है, पुरोहितों पर अवलम्बित रहते थे तो उसका धर्म पर से विश्वास बुरी तरह डगमगा जाता है।

खगोलविज्ञान के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। जब खगोलविज्ञान का समुचित विकास नहीं हुआ था तब वह और ज्योतिषशास्त्र आपस में मिले हुए थे। और कभी कभी पुरोहितगण, जो दोनों के विशेषज्ञ के रूप में प्रख्यात थे, इनके माध्यम से मानवीय कष्टों का निदान सुझाते। कहा जाता है कि खगोलविज्ञान का प्रारम्भ मिस्र और बेबीलोन में कृषिकार्य की सहायता के लिए हुआ। परन्तु शीघ्र ही इस विज्ञान के अद्भुत आविष्कारों ने लोगों का मन अपनी ओर आकृष्ट कर लिया और तथाकथित धार्मिक कहे जानेवाले लोग इसका उपयोग अपने लाभ के लिए मोड़कर धर्मप्रचार हेतु करने लगे। परन्तु इस कार्य में केवल धार्मिक व्यक्ति ही दोषी नहीं थे, काल के प्रभाव से वैज्ञानिक भी इस दोष से अछूते नहीं बचे। यहाँ तक कि केपलर-जैसे महान् वैज्ञानिक ने भी अपने खगोलीय ज्ञान का उपयोग ज्योतिष की भविष्यवाणी के लिए किया था।

आजकल विज्ञान ने धर्म की सीमा प्रायः निश्चित कर रखी है। कुछ अपवादों को छोड़ लोगों को यह मालूम है कि कौन सी वस्तु क्या है। वे धार्मिक और भौतिक चीजों को एक साथ नहीं मिलाते। फलस्वरूप बहुतों का सांसारिक लाभ के लिए धार्मिक वस्तुओं का उपयोग करना बन्द हो गया है।

केवल यही नहीं, चूँकि विज्ञान के आधुनिक आविष्कारों ने विश्व के रहस्यों को और भी गहरा बना दिया है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि विज्ञान प्रत्यक्ष रूप से धर्म के विकास में सहायक हो सकता है। धर्म के बारे में कहा जाता है कि उसकी उत्पत्ति बाह्य जगत् के प्रति विस्मय की

भावना के फलस्वरूप हुई है। अगर यह सत्य हो तो विज्ञान तो बाह्य जगत् के और भी अधिकाधिक रहस्यों का उद्घाटन कर रहा है। परमाणु-बम पैशाचिक नाश का कारण हो सकता है, पर कल्पना कीजिए कैसा महान् आविष्कार है यह! एक परमाणु के भीतर इतनी अधिक शक्ति और ऊर्जा! आधुनिक विज्ञान कहता है कि यह ब्रह्माण्ड इतना विराट् है कि अपना विशाल सौर-जगत् इसकी तुलना में एक क्षुद्र कणिका के समान है। और यह ब्रह्माण्ड आश्चर्यजनक गति से लगातार फैल रहा है। कहा जाता है कि आकाश की त्रिज्या प्रकाश की गति से भी अधिक गति से बढ़ रही है तथा फैलाव की यह गति भी तेजी पर है। ठोस प्रमाणों के अनुसार, सबसे दूर के नक्षत्र जो हमारे वर्तमान यन्त्रों द्वारा देखे जा सकते हैं हमसे बीस हजार लाख प्रकाशवर्ष दूर हैं। अर्थात् १,८६,००० मील प्रति सेकण्ड की गति से चलनेवाली प्रकाश की किरण को वहाँ पहुँचने में बीस हजार लाख वर्ष लगेंगे। फिर "द्वीपीय ब्रह्माण्ड" (island universes) भी हैं जिनके बीच की दूरी लगभग २० लाख प्रकाश वर्ष होगी। और इस अनन्त विस्तृत ब्रह्माण्ड में मनुष्य की स्थिति क्या है? यह कहा जाता है कि मनुष्य की शारीरिक माप एक परमाणु और एक तारे की माप के बीच की होती है। ब्रह्माण्ड के विस्तार की तुलना में एक तारा परमाणु से बड़ा नहीं है। फिर ऐसा तुच्छ और क्षुद्र प्राणी मनुष्य अपने ऊपर भला क्या गर्व और अहंकार कर सकता है? यदि वह ब्रह्माण्ड के विराटत्व की ओर दृष्टिपात करे और अपने स्वयं के क्षुद्र अस्तित्व के बारे में सोचे तो वह विनीत और विस्मयाकुल होगा तथा उसकी दृष्टि स्वाभाविक रूप से इस सृष्टि के निर्माणकर्ता की ओर जायेगी। प्राचीन मानव आश्चर्यमय दृश्यों को– सूर्य को पृथ्वी के चारों ओर दिन-प्रतिदिन घूमता देख तथा चन्द्रमा की कलाओं को घटकर अदृश्य होते तथा पुनः बढ़कर पूर्ण रूप में प्रकट होते देख अभिभूत हुआ होगा तथा किसी अज्ञात देवता के प्रति परम श्रद्धा से नत हुआ होगा। आज आधुनिक विज्ञान ने इन घटनाओं की कविता और रहस्यमयता को, जो प्राचीनकालीन लोगों के सम्मुख प्रकट हुई थी, अवश्य छीन लिया है, परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि विज्ञान ने आश्चर्य के और भी विस्तृत आयामों को खोल दिया है। एक परमाणु के बारे में ही जरा

सोचिए। एक विस्तृत सौर-जगत् ही मानो उस परमाणु के अन्तराल में छिपा हुआ है। परमाणु के भीतर विस्तृत खाली जगह है। एक इलेक्ट्रान का व्यास पूरे परमाणु के व्यास का एक-पचास-हजारवाँ हिस्सा है। परमाणु की विस्तृत जगह के भीतर इलेक्ट्रान नाभिक के चारों ओर एक सेकण्ड में कई हजार लाख करोड़ बार उसी तरह घूमता है जिस प्रकार एक ग्रह नक्षत्र के चारों ओर अन्तरिक्ष में चक्कर काटता है। इन चीजों को पढ़ना मानो परी-कथाओं को पढ़ने के समान है। परन्तु जब व्यक्ति को ज्ञात होता है कि ये वे सत्य हैं जो कड़े परीक्षण की कसौटी में खरे निकले हैं तो वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। वह वैज्ञानिक सत्यों से धर्म के प्रवेशद्वार पर कदम रखता है क्योंकि उसके मन में यह जानने की इच्छा जागती है कि इन रहस्यों का सृष्टिकर्ता कौन है।

यह सोचना व्यर्थ है कि विज्ञान धर्म के आड़े आता है। यथार्थ विज्ञान कभी धर्म का विरोध नहीं करेगा। यदि विज्ञान धर्म का विरोधी न हो, जैसा कि उसे सामान्यतः समझा जाता है, प्रयोगशाला में परखनलियों और बुन्सेन बर्नर की सहायता से ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित कर दे तो क्या बहुत से लोग ईश्वराभिमुख हो जायेंगे? कतई नहीं। क्योंकि ईश्वर की खोज एक अलग ही प्रेरणा का परिणाम है। जब व्यक्ति स्वार्थशून्य हो जाता है, यथार्थ में जगत् की नश्वरता का बोध करने लगता है तभी वह अनन्त को पाने के लिए लालायित होता है। जब तक यह भावना मनुष्य के भीतर नहीं जागती, वह अपने दैनन्दिन के कार्यकलापों में ही मत्त रहेगा। प्राचीनकाल से लेकर अब तक कोई ऐसा महापुरुष अथवा सन्त नहीं हुआ जिसने पहले किसी वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक से ईश्वर का प्रमाण प्राप्त किया हो और फिर धर्मोन्मुख हुआ हो। उसने तो अपनी अन्तःप्रेरणा द्वारा परिचालित हो अपने विचारों को सान्त के परे जो अनन्त है, ज्ञात-जगत् के परे जो अज्ञात है, उस पर केन्द्रित किया और एक दिन आया जब उसने सत्य का साक्षात्कार कर लिया। और तब उसने आश्चर्याभिभूत मानवसमाज के सम्मुख उन वस्तुओं का वर्णन किया जो सामान्य मानवीय विचारों की पहुँच के परे थे। यही धर्मोत्पत्ति का स्वरूप है। अतः धर्म विज्ञान पर आधारित नहीं होगा और न ही विज्ञान मानवजाति की धार्मिक आकांक्षा को कुचल ही

सकेगा।

आजकल विज्ञान बाह्य प्रकृति के नियमों के आविष्कार में व्यस्त है जबकि धर्म अन्तर्जगत् के सत्यों की खोज में लगा है। स्वाभाविक है कि वे एक दूसरे की एकदम विपरीत दिशा में जाते हुए-से प्रतीत हों। परन्तु अनन्तत्व की तुलना में मानवजाति अभी भी शैशवावस्था में है। कौन जानता है कि किसी दूर भविष्य में विज्ञान अपने अन्तिम लक्ष्य में पहुँचेगा और तब धर्म के साथ अपना लेखा-जोखा मिलाते हुए देखेगा कि बहिर् और अन्तर्जगत् नाम की दो अलग चीजों का कोई अस्तित्व नहीं है। केवल एक ही जगत् है–और वह है वैचारिक जगत्। किसका विचार है वह?–यह तो विचारा ही नहीं गया। वह उस महान् स्वप्नद्रष्टा का स्वप्न है जो अपने स्वप्न के ताने-बाने बुनता है और उसे देखकर प्रसन्न होता है।

राजनीति का लक्ष्य

राजनीति कर्मक्षेत्र की एक दूसरी शाखा है जिसे धर्म का अत्यन्त विरोधी कहा जाता है। धर्म और राजनीति के सम्बन्धों को लेकर बहुधा चर्चाएँ होती रहती हैं। वर्तमान समय में धर्म और राजनीति एक दूसरे के बारे में शंकित हैं। धर्म राजनीति पर लोगों को, देशों को तथा मानवता को गुमराह करने का दोषारोपण करता है, और राजनीति खुलेआम, तथा कभी कभी निर्ममतापूर्वक, प्रचार करती है कि धर्म एक पुरावशेष मात्र रह गया है। वह मानवसमाज के ऊपर लादा गया अस्वस्तिकर भार है। राजनीति, अपार भौतिक शक्ति का नियन्त्रण कर, यदा-कदा धर्म को पूरी तरह से कुचलने का प्रयास करती है।

प्राचीन काल में तथा आज से कुछ शताब्दी पूर्व भी स्थिति ऐसी नहीं थी। भारत में हम ऋषियों के बारे में सुनते हैं जो राजाओं और राजकुमारों को सलाह दे उनका मार्गदर्शन किया करते थे। राजा लौकिक शक्ति पर नियन्त्रण रखता था परन्तु उसकी पटभूमि में ऋषि अथवा मुनि होते थे जो नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति के रूप में उसे पथभ्रष्ट होने से बचाते। इस प्रकार शासनतन्त्र का निर्देशक सिद्धान्त और चरम उद्देश्य यह था कि प्रजा को भौतिक दृष्टि से सुखी बनाने के साथ ही साथ उसे किस प्रकार नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत बनाया जा सकता है। उस समय भी युद्ध होते थे, पर वे धर्मयुद्ध थे तथा इन युद्धों के समय भी कुछ मूलभूत नैतिक सिद्धान्तों का पालन, सम्मान और समादर किया जाता था। कुरुक्षेत्र के युद्ध में खून की नदियाँ बह गयीं परन्तु क्षतिपूरक उपादान के रूप में उसने संसार को गीता का अमर सन्देश प्रदान किया। कुरुक्षेत्र के युद्ध का तात्पर्य था- धर्म और अधर्म, सदाचार और दुराचार तथा मानवहृदय में अवस्थित नैतिक मूल्यों और दुष्प्रवृत्तियों के बीच का युद्ध और अन्ततोगत्वा असत्य पर सत्य की विजय।

ऐतिहासिक काल में हम सम्राट् अशोक तथा अन्यों के बारे में सुनते हैं जो सिंहासनारूढ़ होकर भी अत्युच्च नैतिक सिद्धान्तों और आध्यात्मिक विचारों द्वारा परिचालित हुए थे। वर्तमान काल में बहुतेरों को ऐसी

चीजों की सम्भावना के विचार मात्र से हँसी आयेगी। उनकी दृष्टि में अशोक एक स्वप्नद्रष्टा था, एक कल्पनाविहारी और आदर्शवादी था जो भारत के पतन का कारण बना। परन्तु अशोक तथा उसके-जैसे अन्य व्यक्तियों के कार्यों का परिणाम देखिये। उन दिनों भारत में आये विदेशी यात्री कहते हैं–"चोरी अनजानी वस्तु थी। लोग अत्यन्त ईमानदार और सत्यवादी थे, सारे देश में सुख और शान्ति का साम्राज्य था। राजा और प्रजा के बीच, मालिक और नौकर के बीच किसी प्रकार की लड़ाई नहीं थी। धन का समुचित बटवारा था तथा पूँजीवाद ने अपना सिर नहीं उठाया था।" उससे आज की स्थिति की तुलना करके देखिये। कौन सी बेहतर है?

यदि हम यूरोप के इतिहास का अध्ययन करें तो हमें यही बात मिलेगी। हम जितना पीछे जायेंगे, उतना ही राजनीति पर धर्म का प्रभाव देख पायेंगे।

"ग्रीक लोगों के लिए नीतिशास्त्र और राजनीति एक ही अन्वेषण के दो पक्ष थे। नीतिशास्त्र का कार्य था प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक अच्छे जीवन का निर्धारण करना और राजनीति का कार्य था ऐसे समाज का स्वरूप ज्ञात करना जहाँ नीतिशास्त्र द्वारा निर्धारित अच्छा जीवन यापन किया जा सके। दूसरे शब्दों में, राजनीति का उद्देश्य अपने से परे एक ऐसे लक्ष्य की प्राप्ति थी जो नैतिक हो।"

ईसाई धर्म की उत्पत्ति और उत्थान के साथ 'रिफॉर्मेशन'* तक लोगों का विश्वास था कि मानवीय कार्यकलाप का उद्देश्य आध्यात्मिक लक्ष्य की उपलब्धि है। एक समय था जब पोप का प्रभाव राजा अथवा सम्राट् की अपेक्षा कहीं अधिक था। परन्तु धीरे धीरे धर्म और राजनीति में भेद करने की प्रवृत्ति जागी। औसत मानव-स्वभाव की यह जन्मजात दुर्बलता है कि वह उच्च नैतिक सिद्धान्तों को तात्त्विक रूप से समझ तो लेता है परन्तु दैनन्दिन जीवन में उसे अपनी निम्न प्रवृत्तियों के साथ प्रचण्ड रूप से जूझना पड़ता है। परिणामस्वरूप औसत व्यक्ति प्रायः लोभ, विद्वेष, स्वार्थ आदि के सामने घुटने टेक देता है। तथाकथित

*सोलहवीं शताब्दी में यूरोप में पोप के विरुद्ध हुआ ईसाई–धर्म–विप्लव।

सभ्यता के विकास के साथ जीवन अधिकाधिक जटिल होता गया और लोगों को उच्च नैतिक सिद्धान्तों के माध्यम से कम से कम सामूहिक जीवन का मार्गदर्शन करना दुरूह प्रतीत होने लगा। इस तरह धर्म और राजनीति के बीच दरार अधिकाधिक चौड़ी होने लगी। प्रोटेस्टैण्ट धर्म के अभ्युत्थान के साथ धर्म संस्थागत निष्ठा के स्थान पर व्यक्तिगत जीवन की, अपने व्यक्तिगत विवेक की वस्तु हो गयी। अतः लोग अधिक सहजता से शासन से धर्म के कार्यक्षेत्र को अलग करने में समर्थ हुए। क्रमशः यह हुआ कि शासन समाज की भौतिक सुख-सुविधा के कार्य में तथा चर्च उसकी आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति में संलग्न हुआ। लोगों के भौतिक कल्याण की चेष्टा में शासन को आवश्यकता पड़ने पर नैतिक और आध्यात्मिक स्तर को गिराने में संकोच का अनुभव नहीं हुआ। जैसे जैसे यह प्रवृत्ति बढ़ी, राजनीति में सब कुछ सही समझा जाने लगा, यहाँ तक कि इसने 'गन्दा खेल' की उपाधि अर्जित कर ली। यह शायद जान्सन का कथन था कि राजनीति बदमाशों की अन्तिम पनाह है। आजकल यह स्वीकृत तथ्य है कि यदि अच्छा व्यक्ति भी राजनैतिक जीवन अपनाता है तो वह दोहरा नैतिक बोध विकसित करता है– एक, राजनैतिक और दूसरा, व्यक्तिगत। अपने व्यक्तिगत जीवन में वह बहुत अच्छा आदमी है–अत्यन्त मानवीय, सहृदय, सहानुभूतिशील, ईमानदार और सच्चा। पर जैसे ही वह राजनैतिक कार्यों में हाथ बटाता है, वह इन समस्त गुणों को एक किनारे फेंक अपने राजनैतिक लक्ष्य की प्राप्ति में कोई कसर बाकी नहीं रखता। परिणामस्वरूप जब कोई राजनीतिज्ञ अथवा राजनेता आदर्शवाद की बात करता है तो कोई भी व्यक्ति उसके शब्दों को गुरुत्व नहीं देता। सभी जानते हैं कि वे केवल शब्दमात्र हैं और उनका महत्त्व हवा के एक झोंके से अधिक नहीं है। उसकी पवित्र शपथ किसी भी क्षण अत्यन्त बेशर्मी के साथ टूट सकती है तथा एक पवित्र सन्धिपत्र अथवा समझौता, बिना किसी सूचना अथवा चेतावनी के कागज का महज एक टुकड़ा मात्र समझा जा सकता है।

धर्म और राजनीति के झगड़े में धर्म को दोषों से एकदम मुक्त नहीं कहा जा सकता, न ही धार्मिक संस्थाएँ अपने उत्तरदायित्व से मुँह मोड़ सकती हैं। धर्म मनुष्य और उसके स्रष्टा के बीच एक सम्बन्ध है। यदि

मनुष्य यथार्थ में ईश्वर पर विश्वास करता है तो निश्चित है कि वह एकमात्र ईश्वर पर ही निर्भर करेगा, न कि किसी लौकिक शक्ति पर। जब धर्म अपने इस उच्च आदर्श से च्युत होता है तभी धर्म, अथवा कहें कि, धार्मिक संस्था अपनी सहायता, सम्बल और मार्गदर्शन के लिए शासन का मुँह जोहती है। बर्नार्ड शा ने लिखा है, "सभी धार्मिक संस्थाएँ अपने को अमीरों के हाथ बेचकर जीती हैं।" यह स्वाभाविक है कि जो धार्मिक संस्था अपने आश्रय के लिए शासन पर निर्भर करती है, वह शासन के स्वार्थ के विरुद्ध, भले उससे उसके मूलभूत सिद्धान्तों की बलि होती हो, कुछ कह अथवा कर नहीं सकती। कभी कभी चर्च को राज्यसत्ता के साथ एकरूप समझा जाता है, अथवा अधिक हुआ तो उसे राज्यसत्ता के एक सहायक के रूप में देखा जाता है। यही कारण है कि राजनैतिक क्रान्ति अपने साथ मठों और गिरजाघरों आदि के विनाश को लेकर आती है। जब एक नई सत्ता प्रभावशील होती है तब उस प्रत्येक वस्तु को अभिशाप के रूप में देखा जाता है जो पुराने शासन के कार्य में सहायक सिद्ध हुई थी। गिरजा लोगों पर अत्याचार का माध्यम किस प्रकार हो सकता है इसका ताजा उदाहरण सोवियत-पूर्व रूस में देखने में आया।

एक लेखक जिसे रूस के सम्बन्ध में अन्तरंग जानकारी थी कहता है, "इस सत्य को नकारा नहीं जा सकता कि क्रान्ति के समय तथा उसके बाद के कुछ वर्षों तक कट्टरपन्थी चर्च को रूसी जनता के विभिन्न वर्गों के उग्र विद्वेष का सामना करना पड़ा था। पर इसका कारण यह नहीं कि लाखों लोग रातोंरात नास्तिक बन गये थे। यह विद्वेष दार्शनिक कारणों से नहीं वरन् राजनीतिक और सामाजिक कारणों से था। दुर्भाग्य की बात थी कि स्टेट चर्च बहुत बड़े पैमाने पर दूषित निरंकुशता के हाथ का यन्त्र तथा उसके बचाव का साधन बन गया था और उसने रूसी जनता की न्यायसंगत आकांक्षाओं का सक्रियता से विरोध किया था। किसानों और ग्रामवासियों की दृष्टि में पादरी लगान वसूल करनेवाले लुटेरे ज़ारों (Czar) तथा अत्याचारी पुलिस-अधिकारियों का सहायक था।" अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि जनता ने ज़ार के शासन के साथ चर्च का भी नाश कर देना आवश्यक समझा हो।

कभी कभी लोगों की धार्मिक भावना का लाभ उठाना शासकीय

नीति का एक अंग बन जाता है। मैकियावेली के कथनानुसार धर्म और नैतिकता एक बुद्धिमान् शासक द्वारा अपने लाभ हेतु प्रयोग में लाया जानेवाला हथियार है। नैपोलियन प्रथम यद्यपि संशयवादी था, तथापि वह किसी भी ईसाई-विरोधी अथवा पादरी-विरोधी विधान का समर्थन नहीं करता था। वह जानता था कि लोगों को अपनी दुर्दशा और कष्टों को भुलाये रखने में धर्म सर्वाधिक मात्रा में प्रभावी होता है। उसने कहा था, "हाँ, हमें देखना होगा कि गिरजाघरों के दरवाजे सभी के लिए खुले रहें तथा गरीब व्यक्ति को अपनी क़ब्र पर प्रार्थना कराना महँगा न पड़े।"

युद्ध के समय तथा ऐसे अवसरों पर जिनसे उसका स्वार्थ साधित होता हो, शासन समस्त गिरजाघरों में इस प्रकार प्रार्थना को प्रोत्साहित करता अथवा उनका आयोजन कराता है, मानों रातोंरात वह अत्यधिक धर्मप्रवण हो गया हो। यह केवल जनभावना को किसी वस्तुविशेष के पक्ष अथवा विपक्ष में जगाने का एक तरीका मात्र है। धार्मिक भावनाओं का शोषण किस प्रकार किया जा सकता है यह आज के भारत में अच्छी तरह देखा जा सकता है। राजनैतिक नेतागण अपना उल्लू सीधा करने के लिए धर्म की रक्षा के नाम पर जनता को अपने हाथों का खिलौना बना लेते हैं। सामान्य जनता यह नहीं जानती कि उसकी यथार्थ भलाई किसमें है। वह केवल 'धर्म खतरे में है' के नारे का अनुसरण करती है। जनजीवन में धार्मिक भावना सर्वाधिक उत्तेजक पदार्थों में से एक है। उस पर जो अधिकार जमा सकता है, वह बड़ा शक्तिशाली बन जाता है। अतः राजनैतिक नेता जिन्हें स्वयं धर्म में कोई विश्वास नहीं होता, लोगों की धार्मिक भावनाओं का कभी कभी बड़ी सफलता के साथ लाभ उठा लेते हैं।

धर्म के विरुद्ध दूसरी शिकायत यह है कि वह लोगों को डरपोक, दीन-हीन और परलोकवादी बनाता है।

सोवियत राज्य के एक रूसी का कथन है, "पुराने दिनों में हमारे पूर्वजों की धारणा थी कि ईश्वर ने उनके भाग्यों का बटवारा किया है। अब वे देख पा रहे हैं कि वे स्वयं ही अपने भाग्य का निर्माण कर सकते हैं।" इन लोगों की आपत्ति यह है कि यदि कोई हमेशा परलोक में सुख की आशा लगाये बैठा रहे तो स्वाभाविक है उसके इहलोक के

कर्तव्य-कर्म अवहेलित होंगे। यदि लोगों को शारीरिक रूप से बली तथा मानसिक रूप से चुस्त और ओजस्वी बनाना है तो धर्म उसके आड़े आता है क्योंकि धर्म शरीर की नहीं आत्मा की चर्चा करता है।

पर क्या यही यथार्थ धर्म है? जो व्यक्ति इस जीवन के लिए व्यर्थ है, वह परवर्ती जीवन में सार्थकता साधित नहीं कर सकता। जो व्यक्ति इस जीवन की समस्याएँ हल नहीं कर सकता, वह कभी पारलौकिक जीवन की समस्या हल नहीं कर सकता। जिसे इस जीवन से भय लगता है उसके लिए मरणोत्तर जीवन में सफलता की कोई आशा नहीं, क्योंकि वह जहाँ भी जाता है अपने साथ यही मन और यही मानसिक प्रवृत्ति लेकर जाता है। यह एक सामान्य सत्य है। अतः धर्म के विरुद्ध किसी प्रकार की आलोचना करने के पूर्व सर्वप्रथम उसके यथार्थ तात्पर्य तथा महत्त्व का पता लगाना आवश्यक है। परन्तु यह सत्य है कि धर्म जो लोगों को अपना जीवन उच्च नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों के अनुसार सुनियोजित करने की सलाह देता है, वह राजनीतिज्ञों, विशेषकर आधुनिक राजनीतिज्ञों, के लिए बहुत बड़ा बाधक है क्योंकि आजकल राजनीति सिवाय न्याय, ईमानदारी तथा सत्यनिष्ठा के अन्य सबका पर्यायवाची है। और न्याय, ईमानदारी एवं सत्यनिष्ठा ही तो आध्यात्मिक जीवन में सर्वोपरि हैं। अतः स्वाभाविक है कि कोई भी सच्चा व्यक्ति राजनीति अथवा राजनीतिज्ञों को– कुछ अपवादों को छोड़– शंका की दृष्टि से देखेगा। और राजनीतिज्ञों के लिए भी ऐसे लोगों को साथ लेकर चलना जो एक आदर्श को जीना चाहते हैं, कष्टप्रद होगा। यही नहीं, सत्-जीवन का प्रभाव समाज में फैलता है। और राजनीतिज्ञों को ऐसा प्रभाव व्यर्थ करना पड़ता है। अतः वे धर्म के विरोधी होते हैं।

परन्तु इस सत्य को नकारा नहीं जा सकता कि धर्म और राजनीति दोनों ही मानवीय सभ्यता के महत्त्वपूर्ण अंग हैं और हम एक को छोड़ दूसरे के बिना नहीं रह सकते। एक मानो शरीर है तो दूसरा आत्मा। शरीर के बिना आत्मा का कोई प्रकट अस्तित्व नहीं है और आत्माविहीन शरीर प्राणरहित मुर्दा है। दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं। अपने आध्यात्मिक जीवन की प्रगति के लिए भी व्यक्ति को अपने शरीर पर ध्यान देना होता

है। शरीर यद्यपि जड़ है तथापि आध्यात्मिक जीवन के लिए अत्यधिक सहायक है।

इसी तरह राजनीति भी बहुत आवश्यक है। पर वह एक 'गन्दे खेल' के रूप में नहीं, वरन् एक ऐसी संस्था के रूप में जो एक समुचित ढंग से लोगों की आवश्यकताओं और सुविधाओं की ओर ध्यान दे। और केवल तभी लोग उच्चतर वस्तुओं के बारे में सोच सकते हैं। कला, साहित्य, दर्शन और धर्म ये सब अवकाश और शान्तिपूर्ण वातावरण में अनुष्ठित कार्यों की उपलब्धियाँ हैं। और इनकी सुरक्षा उचित शासक और सुव्यस्थित शासन की अवस्थिति में ही सम्भव है। जब देश में लगातार अराजकता हो, जनता गरीबी में पिस रही हो तथा वह मौत, बीमारी और महामारी का सहज शिकार बन रही हो, ऐसी अवस्था में कोई भी उदात्त चिन्तन सम्भव नहीं है। इन विपदाओं से लोगों की रक्षा करना तथा उनके जीवन-संग्राम के तनाव को हल्का करना राजनीति का उद्देश्य है। और इसलिए राजनीति को अवज्ञा की दृष्टि से देखना उचित नहीं है। राजनीति अपने आप में बुरी नहीं है परन्तु जब यह चरित्रभ्रष्ट लोगों द्वारा गुमराह कर दी जाती है तब यह बुरी हो जाती है। अगर जनता को चोरों और लुटेरों से बचाने के लिए पुलिस न हो तथा देश की विदेशी आक्रमणकारियों से रक्षा करने के लिए सेना न हो तो लोगों का जीवन ही असुरक्षित हो जायेगा। इसलिए जो शासन की बागडोर सँभालते हैं, हमें उनके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। पर यदि वे सत्ता के शिखर पर बैठकर विश्वासघात करें तो वे असन्दिग्ध रूप से निन्दा के पात्र हैं। और आज सारे संसार के राजनैतिक क्षेत्रों में प्रायः यही हो रहा है। इसीलिए सम्भ्रान्त श्रेणी के लोग आधुनिक राजनीति को बहुधा नीची निगाह से देखते हैं। आदर्शवाद द्वारा अनुप्राणित तथा न्याय और समानता के उच्चतर भावों द्वारा प्रेरित व्यक्ति आधुनिक काल में राजनीति की विचारधारा को देखकर आतंकित हुए हैं। आज राजनीति व्यापारिक बुद्धि, साम्राज्यवाद, सैन्यवाद तथा अपने सुख और प्रभुता के लिए दूसरों को नीचा दिखाने की जैविकी संघर्षशील प्रवृत्ति का पर्यायवाची बन गयी है। ये चीजें लम्बे समय तक नहीं चल सकतीं। यदि कोई पशुओं की नाईं लड़ता है तो उसे

पशुओं–जैसा मरना भी पड़ेगा। यदि कोई मनुष्य में बर्बरता की पूजा करता है तो वह बर्बरता के ही स्तर पर उतर आता है। सभी राजनीतिज्ञों को इसका स्मरण रखना चाहिए।

यहाँ धर्म सामने आता है और खतरे से अवगत कराता है। मानवजाति की आध्यात्मिक आकांक्षाओं को साकार करते हुए धर्म कहता है, "यदि तुम सुख और शान्ति चाहते हो तो अपने जीवन को उच्च नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित करो।" लोभ और धन की लोलुपता जितनी बढ़ेगी, यथार्थ सुख उतना ही विरल होगा। गर्हित उपायों और अनैतिक कार्यों द्वारा तुम थोड़े समय के लिए भले ही सफल हो जाओ पर तुम यह याद रखना कि इसके द्वारा तुमने व्यक्तिगत और राष्ट्रीय सुख को स्थायी रूप से जोखिम में डाला है।

परन्तु आधुनिक राजनीति चेतावनी के इस स्वर को सुनने की इच्छुक नहीं है। इसलिए कुछ तानाशाह धर्म को पूर्णरूपेण मिटा देना चाहते हैं। पर लोगों की धार्मिक भावना को समाप्त करना क्या सम्भव है? भले ही गिरजाघरों तथा धार्मिक संस्थाओं का दमन और नाश करना सम्भव हो परन्तु व्यक्तिगत धार्मिक आकांक्षाओं को रोका नहीं जा सकता। संसद के कानून द्वारा किसी को धार्मिक नहीं बनाया जा सकता और न ही किसी तानाशाह की विज्ञप्ति मानवहृदय की आध्यात्मिक आकांक्षाओं को मुहरबन्द कर सकती है। यदि धर्म को दबाने की चेष्टा की जायेगी तो लोग प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अधिकाधिक धार्मिक बनेंगे। भले वे गिरजाघरों में न जायँ अथवा अपनी धर्मनिष्ठा को दर्शाने के लिए बाह्य प्रदर्शन न करें पर उनका धार्मिक जीवन तीव्रता के साथ अपने आप को रूपायित करता रहेगा जब तक कि उसका प्रभाव दावानल की भाँति दहक न उठे। धर्म मनुष्य की मूलभूत आवश्यकता है। मनुष्य की आन्तरिक प्रेरणा ही उसे धार्मिक बनाती है। कोई नहीं जानता कि वह आन्तरिक प्रेरणा कैसे आती है और इसलिए कोई उसे दबाने का उपाय भी नहीं सुझा सकता। वह पकड़ से बाहर है। जितना ही हम उसे पकड़ने की कोशिश करें वह हमसे उतनी ही दूर भागती है। अतः जो यह सोचकर भयभीत होते हैं कि राजनैतिक प्रभुता धर्म को चूर चूर कर डालेगी, वे झूठे भय के शिकार हैं। भले ही धार्मिक संस्थाओं, गिरजाघरों और मसजिदों

पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय तथा मन्दिरों को ढहा दिया जाय परन्तु धर्म को कुचला नहीं जा सकता। ईश्वर के मन्दिर लोगों के आन्तरिक धार्मिक जीवन की बाह्य अभिव्यक्ति हैं। भले इन प्रकट स्वरूपों को नष्ट कर दिया जाय परन्तु लोगों का आन्तरिक जीवन सदा अक्षुण्ण रहेगा क्योंकि वह अविनाशी है।

अब प्रश्न यह है कि धर्म और राजनीति में सामंजस्य कैसे बैठे? दोनों ही जीवन की मूलभूत आवश्यकताएँ हैं। दोनों एक दूसरे के विपरीत जाते हुए विरोधी उद्देश्यवाले प्रतीत होते हैं। राजनीति बुरी नहीं है, बशर्ते उसे परिष्कृत और शुद्ध किया जाय। वह तो राजनीति के अनुगामी हैं जो उसे अच्छा या बुरा बनाते हैं। राजनीति एक अमूर्त वस्तु है। जब व्यक्ति उसे कार्य में परिणत करता है तब वह आकार धारण करती है। यह बात अनुभव से जानी गयी है कि कोई भी राजनैतिक प्रणाली सम्पूर्णतया अच्छी या बुरी नहीं है। किसी भी प्रणाली के साफल्य की मात्रा उसके कर्णधारों पर निर्भर करती है। यदि राजतन्त्र सफल हुआ है तो उसे असफलता भी मिली है। प्रजातन्त्र ने महान् उपकार किये हैं पर उसने मनुष्य की आशाओं पर तुषारापात भी किया है। सबसे आधुनिक सनक साम्यवाद है। कुछ काल पूर्व उसने बड़ी ऊँची आशाएँ दिलायीं पर अब उसका रंग क्रमशः बदलता–सा नजर आ रहा है। कोई भी राजनैतिक प्रणाली दोषमुक्त नहीं है। हर प्रकार की शासनप्रणाली के साथ मूलभूत समस्या यह है कि यथार्थ सत्ता सँभालनेवाले व्यक्ति कौन हैं तथा उनका चरित्र कैसा है?

धर्म ही राजनीति को सही प्रकार के व्यक्ति प्रदान करेगा। सही प्रकार के व्यक्ति वे नहीं हैं जो एक विशिष्ट मत के अनुयायी हैं अथवा किसी विशिष्ट सिद्धान्त के प्रचार के अभिलाषी हैं, परन्तु वे लोग हैं जो आस्थावान् हैं अथवा जो अपने आन्तरिक जीवन को गठित करना चाहते हैं। अधिक गम्भीर स्वभाववाले धार्मिक व्यक्ति राजनीति में आना नहीं चाहेंगे। परन्तु फिर भी उनका प्रभाव चुपचाप अपने आप ही समाज में फैलेगा और फलस्वरूप समाज राजनीति को अच्छे लोग प्रदान कर सकेगा।

फिर, क्या धर्म और राजनीति में कहीं पर कुछ समानता नहीं है? धर्म

कहता है, "अपने पड़ोसी को अपने–जैसा प्यार करो।" प्रत्येक धर्म यही कहता है कि मानवता की सेवा ही ईश्वर के प्रति पूजा निवेदित करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। राजनीति का उद्देश्य भी जनता की सेवा करना है। अतः यह एक अभिन्न सामान्य सूत्र है। परन्तु राजनीतिज्ञ जिसे केवल मानवतावादी और पारोपकारिक उद्देश्य से करते हैं, धार्मिक व्यक्ति उसे आध्यात्मिक भावना से करते हैं। चूँकि धार्मिक जीवन का तात्पर्य आत्मसंयम का सतत प्रयास है इसलिए स्वाभाविक है कि धार्मिक व्यक्ति एक राजनीतिज्ञ की अपेक्षा अपने आदर्श पर अधिक लम्बे समय तक स्थित रह सकता है। राजनीतिज्ञ यद्यपि प्रारम्भ में सर्वोच्च उद्देश्य द्वारा परिचालित होता है पर वह शीघ्र ही परिस्थितियों की आवश्यकताओं के सम्मुख घुटने टेक देता है और अन्ततोगत्वा पाखण्ड का ढेर मात्र बनकर रह जाता है। यह आम बात है और इसमें अपवादों की गणना नहीं करनी चाहिए। यही कारण है कि जब राजनीतिज्ञ उच्च आदर्श की बात करता है तो बुद्धिमान लोग उसके शब्दों को गुरुत्व नहीं देते। अब, यदि राजनीतिज्ञों के पीछे एक आध्यात्मिक पृष्ठभूमि रहे तो वे और भी अच्छी तरह कार्य कर सकेंगे, लोगों का अधिक विश्वास अर्जन करेंगे और इसलिए उनका प्रभाव भी विस्तृत होगा। यह बहुधा दृष्टिगोचर होगा कि जो राजनीतिज्ञ अपने जीवन भर न्याय और समानता के लिए सतत संघर्ष करते रहे तथा दुर्बलों और प्रताड़ितों के उद्देश्यों का समर्थन करते रहे, वे अपने व्यक्तिगत जीवन में अत्यन्त सच्चरित्र, नैतिक और आध्यात्मिक थे।

आवश्यकतानुरूप प्रत्येक को कार्य करना पड़ता है। कर्म से कोई मुक्ति नहीं है। एक अत्यन्त उच्चस्तरीय आध्यात्मिक पुरुष अथवा उसके विपरीत वैचारिक क्षमता से हीन व्यक्ति ही बिना कर्म के रह सकता है। इन दोनों श्रेणियों के मध्यवर्ती लोगों को कार्य करना ही पड़ता है। गीता कहती है–यदि तुम स्वेच्छा से कार्य नहीं करोगे तो प्रकृति तुमसे बलात् कर्म करायेगी। और सही भावना से अनुष्ठित कर्म धार्मिक हो जाता है– आध्यात्मिक साधना का एक रूप बन जाता है। इस दृष्टि से जो राजनीति के माध्यम से मानवता की सेवा करना चाहते हैं, उन्हें उपेक्षित नहीं किया जा सकता और न ही नकारा जा सकता है। यदि वे उचित

भावना से कार्य करें तो वे अपने कार्यों को आध्यात्मिक स्तर तक उठा सकते हैं।

यह समय की पुकार है। जो राजनीति में प्रवेश लेना चाहते हैं, वे यह कार्य एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण लेकर, परोपकारिता का उच्च भाव लेकर करें और दिन-प्रतिदिन आत्मविश्लेषण, अन्तर्दृष्टि, सतर्कता और सावधानी के साथ अपने आप का परीक्षण करें जिससे वे सन्मार्ग से च्युत न होने पावें। इस प्रकार धर्म और राजनीति के बीच समन्वय का सूत्रपात होगा। राजनीति भ्रष्टाचार से रक्षा पायेगी और धर्म एक व्यापक दृष्टि लाभ करेगा। केवल इस प्रकार ही संसार को नाश से बचाया जा सकता है तथा संस्कृति और सभ्यता के भविष्य को सुरक्षित रखा जा सकता है।

मन की गहराइयों में

मनोविश्लेषण मनोविज्ञान की एक शाखा है जिसने हाल में धर्म तथा आधुनिक विचारधारा पर प्रचुर प्रभाव विस्तारित किया है। 'मनोविश्लेषण' शब्द फ्रायड की देन है। परन्तु इसकी उत्पत्ति का पता इस घटना से लगाया जा सकता है कि पिछली सदी के नवें दशक में वियना के जोसर ब्रुअर ने एक नई ही प्रणाली के द्वारा–रोगियों के मन की गहराइयों का अध्ययन कर, मन की व्याधियों का निदान प्रस्तुत करके कुछ रोगियों की बीमारी दूर की थी। फ्रायड द्वारा विकसित मनोविश्लेषण मन की अन्दरूनी समस्याओं से सम्बन्धित है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की मन की गहराइयों में बहुत सी इच्छाएँ और वासनाएँ दबी पड़ी हैं। वे सतत अपने को चेतना के स्तर पर उठाने का बलात् प्रयास कर रही हैं। परन्तु चूँकि ये इच्छाएँ बहुत अच्छे प्रकार की नहीं हैं, मनुष्य उन्हें अपने मन के निम्नस्तर पर ढकेलने का प्रयास करता है और इस प्रकार अन्तर्द्वन्द्व का प्रारम्भ होता है। इस अन्तर्द्वन्द्व के फलस्वरूप मनुष्य नाना प्रकार की मानसिक और शारीरिक व्याधियों से ग्रस्त होता है। ये इच्छाएँ हिमशिलाओं के समान हैं जिनका अल्पांश ही चेतना के स्तर पर परिलक्षित होता है और बाकी का हिस्सा अचेतन मन में डूबा रहता है। यह अचेतन मन ही बुरे विचारों का भण्डार है तथा मनुष्य के जीवन की दिशा निर्धारित करने में इसका प्रभाव प्रचण्ड होता है। अचेतन मन की उपेक्षा थोड़े समय तक ही की जा सकती है, अधिक समय तक नहीं। उसका सामना करना ही होगा और वह जितने सहज भाव से सम्पन्न होगा, मनुष्य का मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य उतना ही अच्छा होता जायेगा। मनोविश्लेषण यह नहीं बताता कि अचेतन मन पर नियन्त्रण कैसे किया जाय पर वह अचेतन मन की इच्छापूर्ति की आवश्यकता का समर्थन करता है। अब, यदि अचेतन मन बुरे विचारों का भण्डार हो तब तो उनके वशीभूत होना खतरनाक है। परन्तु विज्ञान अथवा ज्ञान की कोई भी शाखा जो वैज्ञानिकता का भान करती है, किसी भी वस्तु को अच्छे या बुरे के रूप में स्वीकार नहीं करती, वह तो केवल तथ्यों को प्रकट करती

है। उसके अनुसार अचेतन मन की जरूरतें पूरी की जानी चाहिए। यदि व्यक्ति उन्हें पूरा नहीं करता है तो वह कष्ट को न्यौता देता है। अचेतन मन के चंगुल में पड़कर मनुष्य असहाय बन जाता है। उससे बच निकलने की कोशिश करना मानों प्रकृति के विरुद्ध जाना है और कोई भी व्यक्ति प्रकृति की अवज्ञा कर अदण्डित नहीं रह सकता।

एक समय फ्रायड को मनोविश्लेषण के क्षेत्र में विशेषज्ञ माना जाता था। किन्तु बाद में कई लोगों ने उसकी विचारधारा से मतविच्छेद कर लिया। अलफ्रेड एडलर ने जो फ्रायड की छत्रछाया में जीवनपर्यन्त रहने का अनिच्छुक था, कहा था कि मनुष्य के जीवन की प्रमुख प्रवृत्ति है प्रभुता की आकांक्षा, दूसरों पर अधिकार जताने की इच्छा। जब व्यक्ति को यथेष्ट अधिकार-प्रदर्शन का अवसर नहीं मिलता अथवा मिल पाता तो उसे कष्ट होता है। वह अपने मन का ही दुःखमय शिकार बन जाता है। अतः व्यक्ति को अपने आत्मविकास अथवा आत्माभिव्यक्ति के लिए समुचित अवसर मिलना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को उसके विकास के लिए सर्वाधिक मात्रा में स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। उसे जितनी अधिक स्वतन्त्रता मिलेगी उसका उतना ही कल्याण होगा। यह कहा जाता है कि फ्रायड ने जहाँ मनुष्य के भीतर के पशु को उद्घाटित किया, एडलर ने भीतर के शैतान को अनावृत किया और यह शैतान है—अधिकार-प्रदर्शन और स्वाग्रह की प्रबल प्रवृत्ति। डा० सी. जी. युंग जो मनोविज्ञान की अन्य शाखा का प्रतिनिधित्व करते हैं यह नहीं मानते कि अचेतन मन संघर्षोपरान्त दमित इच्छाओं का भाण्डार है। उनके अनुसार मनुष्य के जीवन का प्रमुख तत्त्व "एक अभिन्न आदि प्राणशक्ति है जिससे सारी नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं।" और "अचेतन मन की सृष्टि व्यक्ति के एकांगी मानसिक विकास के फलस्वरूप होती है।"

मनुष्य प्रमुखतः दो प्रकार के होते हैं—बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। पहले प्रकार में भावना की प्रधानता होती है जबकि दूसरे में चिन्तन का योगदान महत्त्वपूर्ण होता है। "प्रत्येक अवस्था में अवहेलित सम्भावनाएँ अचेतन बनने की ओर प्रवृत्त होती हैं।" जीवन में संघर्षों का जन्म तब होता है जब एक अत्यन्त संवेदनशील व्यक्ति ऐसे परिवेश में रख दिया

जाता है जहाँ उसकी भावनाओं को खुलने का अवसर नहीं मिलता, अथवा जब एक वैचारिक क्षमतासम्पन्न व्यक्ति को ऐसी परिस्थितियों से जूझना पड़ता है जहाँ चिन्तन की अपेक्षा संवेदनशीलता की अधिक आवश्यकता है। जब संघर्ष का आधिक्य हो जाता है तो व्यक्ति स्नायुरोग से पीड़ित हो जाता है। इन अवस्थाओं में भी व्यक्ति अपने मन का, अथवा यों कहें, अपने अचेतन मन का शिकार हो जाता है।

मनोविज्ञान की अन्य शाखाएँ परस्पर में कुछ सामान्य मतभेदों को लेकर प्रकटी हैं। एक प्रसिद्ध लेखक का कथन है, "मनोविश्लेषण वास्तव में अपनी शाखा-प्रशाखाओं की संख्या में ईसाई धर्म का प्रतिद्वन्द्वी हो चला है।" जो हो, इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस विषय ने कितनी अधिक अभिरुचि जगायी है।

इन सबका पुंजीभूत परिणाम यह है कि आधुनिक मनुष्य को यह विश्वास करना पड़ रहा है कि वह अचेतन मन का अपरिहार्य शिकार है। धर्म और नीति का कथन है कि तुम्हें अपनी निम्न प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण करना होगा। जब तक तुम उन पर पूर्णतया विजय हासिल नहीं कर लेते, तुम पूर्णता लाभ नहीं कर सकते। किन्तु मनोविश्लेषण कहता है कि ऐसा करना प्रकृति के विरुद्ध जाना है। तुम अपनी पाशविक प्रवृत्तियों का नाश नहीं कर सकते। वे अपनी सन्तुष्टि के लिए न्यायसंगत मूल्य वसूल कर ही लेंगी। यह सिद्धान्त खतरनाक है। क्योंकि यदि एक बार भी तुमने मांसल सुख की लालसा के सामने घुटने टेके, तो कितने नीचे गिरोगे यह तुम नहीं जानते। फिर तुम शरीर-सुख पर नियन्त्रण करने के प्रयास के औचित्य को भी नहीं देख पाते, क्योंकि तुम समझ लेते हो कि वह प्रकृति का एक अंग है। व्यक्ति एक अत्यन्त सामान्य सत्य को भी भूल जाता है कि कामनाओं की पूर्ति से कामनाओं का नाश नहीं होता। व्यक्ति जितना ही उनके सामने झुकता है, कामनाओं की लपटें उतनी ही ऊँची उठती हैं और अन्त में वह उनमें पूर्णतया खो जाता है।

मनोविश्लेषण अवश्य ही उदात्तीकरण, स्थानान्तरण आदि की चर्चा करता है। परन्तु ये समाज की सुरक्षा की जरूरतों के लिए केवल न्यूनतम छूटें हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति उच्छृंखल हो जाय तो समाज चल नहीं

सकता। कहीं न कहीं कुछ रोक तो लगानी होगी। और इसीलिए ये रियायतें हैं।

परन्तु अचेतन मन को केवल पापों और निम्न प्रवृत्तियों से ही भरा हुआ क्यों मानें? यह सत्य ही कि व्यक्ति आत्मसंयम का जीवन बिताना चाहता है, दर्शाता है कि यह प्रवृत्ति भी उसके स्वभाव का एक अंग है। तो क्या यह नहीं कहा जा सकता कि यह भी अचेतन मन से ही आती है? एक चरित्रभ्रष्ट व्यक्ति पश्चात्ताप का अनुभव क्यों करता है? उसकी यह अनुशोच की भावना कहाँ से आती है? चेतन और अचेतन मन के बीच कोई अभेद्य दीवार नहीं है। यह कहना अपेक्षाकृत अधिक न्यायसंगत होगा कि अच्छे और बुरे दोनों ही अचेतन मन की गहराइयों से उद्भूत होते हैं। अतः अचेतन मन को केवल निम्न प्रवृत्तियों का भाण्डार ही क्यों कहें?

और यह अचेतन मन है क्या? तथा उसकी संरचना और उत्पत्ति का तात्पर्य क्या है? प्रवृत्तियाँ वहाँ पर कैसे एकत्रित होती हैं? इन प्रश्नों का श्रेष्ठ उत्तर यह है कि अचेतन मन पूर्वजन्म की प्रवृत्तियों का भाण्डार है। इससे मनुष्य के भूत और भावी जीवनों की बात पूर्वानुमानित होती है। पूर्वजन्म में मनुष्य की कुछ इच्छाएँ पूर्ण हुई थीं तथा कुछ अपूर्ण रही थीं। उनका प्रभाव मन पर अंकित हो गया था। जैसे अवसर उपस्थित हुए, इन प्रभावों ने रूप और आकृतियाँ धारण कीं। पर ये प्रभाव अच्छे और बुरे दोनों हैं। और इसीलिए मनुष्य कभी उच्च आशा और आकांक्षाओं से पूरित रहता है और कभी वह निम्न प्रवृत्तियों का शिकार बन जाता है। फिर अच्छी प्रवृत्तियों द्वारा बुरी प्रवृत्तियों का नाश भी किया जा सकता है।

आधुनिक मानव एक ओर तो विचार-स्वातन्त्र्य और कर्म-स्वातन्त्र्य की इतनी बातें करता है पर दूसरी ओर यह भी सोचता है कि वह अचेतन के हाथों खिलौना है। यह तर्कसंगत नहीं है। यदि मनुष्य अचेतन मन के हाथों एकदम कठपुतली बना रहे तब तो उसके लिए कोई आशा नहीं है। वह एक स्वचालित यन्त्र मात्र होगा, एक प्राणहीन मशीन होगा। परन्तु वह तो एक जीवन्त प्राणी है। वह सोचता और अनुभव करता है, आशा और अभीप्सा रखता है। कम से कम वह यह तो अनुभव करता है कि

वह अपने घर का स्वामी है। मनुष्य जब कोई गलत काम करता है तो क्या वह यह सोचकर सन्तुष्ट हो जाता है कि वह अचेतन मन का शिकार हो गया है? नैतिकता का स्तर भले निम्न से निम्नतर हो जाय फिर भी कुछ ऐसी वस्तु बाकी रहती हैं जिसे मनुष्य को मानना ही पड़ता है। क्या वह ऐसा कर सकता है? आधुनिक सिद्धान्त अपना अन्तिम तर्कसंगत निष्कर्ष निकालकर कहता है कि वह ऐसा नहीं कर सकता; क्योंकि उसमें कोई पहल-शक्ति नहीं है, कोई स्वतन्त्रता नहीं है। यह मनुष्य के जीवन की निराशामय, हताशापूर्ण, विषण्ण अवस्था है।

मनोविश्लेषण के इतने जनप्रिय होने का एक कारण शायद यह है कि वह मनुष्य को इन्द्रिय-सुख की ओर दौड़ने की स्वीकृति प्रदान करता है; और उसकी एक उचित सीमा लाँघकर भी मनुष्य अपने विवेक को यह सोचकर सान्त्वना बँधा देता है कि अन्ततः यह एक अपरिहार्य बुराई है। इसका परिणाम यह हुआ है कि नैतिकता का स्तर तेजी से गिरा है। पचास वर्ष पूर्व मनुष्य जिस काम को करने की अपने मन में कल्पना तक नहीं कर सकता था, उसे अब वह खुले-आम करता है और अपने पूर्वजों की शालीनता के भान पर हँसता है। पर क्या इससे मनुष्य अधिक सुखी हुआ है अथवा समाज स्वस्थतर हुआ है? हम तो पाते हैं कि मनुष्य अधिकाधिक अशान्त होता जा रहा है। उसका अपने मन पर कोई संयम नहीं है और न ही अपने ऊपर कोई नियन्त्रण। वह समस्त शान्ति और सन्तुलन गँवा बैठा है। वह मानों चतुर्दिक्पालों की कृपा पर निर्भर करता हुआ भाग-दौड़ का जीवन बिताता है।

मनोविश्लेषण की उत्पत्ति चिकित्सीय कारणों को लेकर हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि इस निदान के द्वारा कुछ बीमारियाँ ठीक हुई हैं तथा होती हैं। पर प्रत्येक निदान कुछ रोगों में लाभकारी होता है तथा दूसरों में असफल। अतः मनोविश्लेषण द्वारा प्राप्त उपलब्धियों को एक रहस्योद्घाटन अथवा एक नूतन सत्य के रूप में देखने की आवश्यकता नहीं है।अवश्य ही मन का शरीर पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। किन्तु मन पर अत्यधिक ध्यान देना मन को कभी कभी बीमार बना देता है। बच्चे की अत्यधिक देखभाल उसके भविष्य को बिगाड़ देती है। प्रत्येक रोग का कारण मन की किसी विशेष अवस्था में ढूँढ़ना रोगी को गलत

सुझाव देना है और जहाँ कुछ नहीं है वहाँ उसे भूत देखने को बाध्य करना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनोविश्लेषण ने कुछ रोगियों को स्वस्थ बनाया है परन्तु उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के दुरुपयोग ने बहुत से स्वस्थ व्यक्तियों को मानसिक रोगी भी बना दिया है।

सच तो यह है कि मनोविश्लेषण, अथवा यों कहें कि, समस्त आधुनिक मनोवैज्ञानिक मन के केवल एक अंश को ही देख पाते हैं। उसे उन्होंने सम्पूर्ण रूप से नहीं देखा है। अतः उनके निष्कर्ष केवल आंशिक रूप से सत्य हैं। वे स्वयं मन का अंश होने के कारण सम्पूर्ण मन को नहीं देख सकते। वे अपने मन के द्वारा मनों का अध्ययन करते हैं इसलिए उनके निष्कर्षों को अन्तिम नहीं माना जा सकता।

भारतीय मनोवैज्ञानिक मन के परे पहुँचे हैं और इसलिए उनके निष्कर्ष अलग तथा अधिक प्रभावशाली हैं। पतंजलि (लगभग २०० ई. पूर्व) एक महान् ऋषि और मनोवैज्ञानिक हुए जिन्होंने मन के विक्षेपों को पहचाना और उनके निदान के रूप में ठोस उपाय सुझाये। वे मानते हैं कि औसत व्यक्ति काम, लोभ तथा अन्य वासनाओं का शिकार है पर वे यह नहीं कहते कि उनसे मुक्ति पाने के लिए व्यक्ति को उनसे खेलने की खुली छूट देनी चाहिए। उनका कथन है कि दुर्गुणों के विपरीत सद्गुणों का सतत चिन्तन करने से व्यक्ति दुर्गुणों को जीत सकता है।

'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्' (योगसूत्र, २/३३)—हानिकर भावनाओं को रोकने के लिए विपरीत भावनाएँ आरोपित करनी चाहिए। यदि तुम्हें क्रोध से मुक्ति पानी है तो प्रेम का चिन्तन करो। यदि तुम प्रेम में आरूढ़ हो सके तो तुम्हारे शत्रु भी तुम्हें क्रोधित करने में असमर्थ होंगे, वे तुम्हारे शत्रु ही नहीं रह जायेंगे।

और सर्वोपरि, मन की समस्त बीमारियों से मुक्त होने की रामबाण औषध है—मन को ध्यान के द्वारा शक्तिशाली बनाना। ध्यान के द्वारा मन की वृत्तियाँ (जो कि समस्त दुःखों की जड़ें हैं) नष्ट हो जाती हैं। मनुष्य के कष्ट पाने का कारण यह है कि उसका मन दुर्बल है। मन को शक्तिशाली बनाने का अचूक और एकमात्र उपाय है ध्यान का अभ्यास।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक यह नहीं जानते कि ध्यान क्या है, और इसलिए उसके महत्त्व की अवधारणा नहीं कर पाते। जिन्होंने ध्यान की

साधना की है वे उसके नियमित अभ्यास से प्राप्त परिणाम के प्रति विश्वस्त हुए हैं। ऐसे लोग हैं जो उस अवस्था पर पहुँच चुके हैं जहाँ मन के विक्षेपों का कोई असर नहीं होता। वे अपने मन के स्वामी हैं तथा उनका मन उन पर किसी प्रकार भी कोई प्रभाव विस्तारित नहीं कर पाता। औसत व्यक्ति अपनी मन की दुष्टता के शिकार होते हैं। वे सब समय स्वयं को कायर ही प्रमाणित करते हैं। परन्तु एक मनीषी का अपने मन पर उसी प्रकार पूर्ण नियन्त्रण होता है, जैसे एक निपुण घुड़सवार अपने उन्मत्त घोड़े को वश में रखता है।

प्लेटो ने कहा है कि मनुष्य की कामनाएँ उन घोड़ों के समान हैं जो बेकाबू हो दौड़ना चाहते हैं तथा मनुष्य को सर्वनाश के पथ पर ले जाने की कोशिश कर रहे हैं। यदि मनुष्य दुर्बल हो तो उसके जीवन का बड़ा खतरा है। परन्तु यदि वह कुशल सारथि है, तो वह उन्हें नियन्त्रित करेगा और सकुशल जीवन के गन्तव्य को पहुँचेगा। उपनिषदों में ठीक ऐसी ही उपमा दी गयी है जहाँ मनुष्य की कामनाओं की तुलना घोड़ों से की गयी है।

मनुष्य के जीवन की तीन अवस्थाएँ हैं। सर्वप्रथम मनुष्य में पशुत्वभाव रहता है जो उसे इन्द्रिय-सुख के लिए प्रेरित करता है। कुछ व्यक्ति इन्द्रियों में जीते हैं, विषय-सुख में ही उनका एकमात्र आनन्द है। भले ही उनकी आकृति मनुष्य की है, परन्तु उनकी अवस्था जानवरों अथवा हिंस्र पशुओं से बेहतर नहीं। फिर, कुछ उच्चतर श्रेणी के लोग हैं जिनमें सत् और असत् के बीच, ऐसी वस्तुओं के बीच जो दिखने में भ्रामक हैं तथा जो वास्तव में श्रेयस्कर हैं, भेद करने का विवेक-बोध जगा है। वे असत् का परित्याग कर सत् के अनुसरण की चेष्टा करते हैं। उनका जीवन सतत संघर्ष का जीवन है। वे कामनाओं की धारा में प्रवहमान होने के बदले एक आदर्श के अनुसरण का प्रयास करते हैं। उन्हें मानवीय स्तर का कहा जा सकता है। विवेक, ज्ञान तथा श्रेय का अनुसरण करने का उनका सतत प्रयास उन्हें निम्न पशुओं से भिन्न कर देता है। इसलिए कहा जा सकता है कि वे 'मानव' स्तर के हैं। फिर ऐसे भाग्यशाली व्यक्ति भी हैं जो अपने ऊपर पूर्णरूपेण संयम स्थापित करने के प्रयास में सफलीभूत हुए हैं। उनका मन किसी भी प्रकार पथविमुख

नहीं होता तथा आज्ञाकारी घोड़े की भाँति सदा सन्मार्ग का अनुसरण करता है। ये व्यक्ति भले ही बाह्य दृष्टि से संसार में निवास कर रहे हों, पर ये दैवत्व के अधिकारी कहे जा सकते हैं। मनुष्यजीवन का चरम लक्ष्य इसी दिव्यता की प्राप्ति है। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि अधिकांश मनोविश्लेषक मनुष्य के अन्तर्निहित पशुत्व पर ही जोर देते हैं। वे उच्च वस्तुओं की अवधारणा नहीं कर पाते क्योंकि उन्होंने स्वयं किसी उच्चावस्था का आस्वादन अथवा दर्शन-लाभ नहीं किया है। फिर बहुत-कुछ उन रोगियों की श्रेणी पर भी निर्भर करता है जिनके साथ ये मनोविश्लेषक प्रयोग करते हैं। डा० सी. जी. युंग ने एक बार कहा था कि फ्रायड के ऐसे निष्कर्षों का कारण यह था कि उसके अधिकांश रोगी हीन चरित्र के थे। उसने मनुष्य की पशुता को ही उजागर किया क्योंकि उसने अपने रोगियों में दुर्भाग्यवश पशुवृत्ति का प्राधान्य पाया। यदि वह अपेक्षाकृत अच्छे प्रकार के, नैतिक दृष्टि से उन्नत रोगियों पर कार्य करने में समर्थ होता तो शायद उसके निष्कर्ष भिन्न प्रकार के होते। दुःख की बात यह है कि धैर्यहीन जनता में अधिक सोचने-विचारने की क्षमता नहीं होती। वह मनोविश्लेषण के प्रत्येक निष्कर्ष को वेदवाक्य मान बैठती है। अथवा क्या हम यह कहें कि "तुम वही सुनते हो जो तुम सुनना चाहते हो"? तुम इन चीजों को सत्य मानकर इसलिए विश्वास करते हो कि ये तुम्हारे मन में छिपी विकृत कामनाओं को तुष्ट करती हैं।

व्यवहारवाद मनोविज्ञान की एक दूसरी शाखा है जो धार्मिक विश्वासों की जड़ें खोदती है। व्यवहारवाद का एक सिद्धान्त यह है कि मन का कोई अस्तित्व नहीं है। जिसे हम सोचना कहते हैं वह अनुच्चरित वाणी है। विचार केवल एक शारीरिक प्रक्रिया है, एक विशिष्ट उद्दीपनावस्था में स्वरयन्त्र और मस्तिष्क की क्रिया का परिणाम है। "हम सोचते नहीं, हम बोलने का आरम्भिक कार्य करते हैं। हमसे कुछ देखना नहीं होता, हम केवल पलकों को समंजित करते हैं।" यदि यह दृष्टिकोण सही हो तब तो मनुष्य एक पक्का स्वचालित यन्त्र बन जाता है। तब फिर तो वह अपने द्वारा किये किसी भी बुरे कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं है। उसमें मन, वाणी और कर्म की कोई स्वाधीनता नहीं है। प्रत्येक वस्तु एक विशेष उद्दीपनावस्था में यान्त्रिक और भौतिक प्रक्रिया

के परिणाम-स्वरूप है। पाप नाम की कोई वस्तु नहीं है और न ही व्यक्ति किसी उच्चतर जीवन की आशा अथवा आकांक्षा कर सकता है। सदाचार की नींव ढह जाती है। नैतिकता का कोई मूल्य नहीं रह जाता। इस तरह धार्मिक विश्वासों को मूल में ही नष्ट कर दिया जाता है।

यदि व्यवहारवाद का सिद्धान्त पूर्ण रूप से प्रमाणित और दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित भी हो जाय तो भी यह सम्भव नहीं कि मनुष्य अपने को एक शारीरिक यन्त्र के ही रूप में सोचने, समझने और विश्वास करने लगेगा। कारण यह है कि मनुष्य में आशा और भय की, सुख और दुःख की संवेदनाएँ हैं और उनसे वह केवल एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के कारण ही मुक्त नहीं हो सकता। परन्तु खतरे की जो बात है वह यह कि कोई जघन्य अपराध करके भी मनुष्य यह सोचकर अपने दायित्व से मुकरने की कोशिश करेगा कि आखिरकार यह तो एक यान्त्रिक प्रक्रिया ही है। अच्छे कार्यों का श्रेय लेने के लिए वह अपने को कर्ता स्वीकारेगा परन्तु गर्हित कार्यों के लिए दोषी ठहराया जाने पर अपने उत्तरदायित्व से मुकरने का प्रयास करेगा। भले ही उसे अपने कर्मों के लिए जननिन्दा का सामना न करना पड़े परन्तु वह अपने कार्यों को नियन्त्रित करने का समस्त उत्साह गँवा बैठेगा। यदि व्यवहारवाद का सिद्धान्त उसके मन में घर कर बैठता है तो अपने आप को सुधारने का उसका उत्साह शिथिल पड़ जायेगा। धर्म का तात्पर्य है चेतना के जीवन को जीने का सतत प्रयास तथा अनवरत संघर्ष। परन्तु व्यवहारवाद चैतन्य के अस्तित्व की तो बात ही क्या, मनुष्य में शारीरिक प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्य कोई वैचारिक शक्ति है यही स्वीकार नहीं करता।

आधुनिक मनोविज्ञान की ये तथा अन्य प्रवृत्तियाँ भले ही यान्त्रिक और नियतिवादी हों पर उनका त्राणकारी वैशिष्ट्य यह है कि वे आधुनिक मानव की अपने मन के यथार्थ स्वरूप को जानने की बेचैनी को प्रदर्शित करती हैं। आधुनिक मानव का पारम्परिक मतों तथा संस्थागत धर्मों पर से विश्वास हट गया है। पर वह अपने अन्तस्थल में कुछ अनुभूति चाहता है। उसने स्वर्ग के ईश्वर को त्याग दिया है परन्तु अपने स्वयं के भीतर ईश्वर को देखने की आकांक्षा रखता है। वह ऐसी अनुभूति की इच्छा रखता है जो मूर्त, संशय से परे और विज्ञानसम्मत हो।

यदि हम एक ऐसी श्रेणी के लोगों को पाते हैं जो गिरजा-धर्मों तथा सुसमाचार-मतों के विरुद्ध हैं तो ऐसे भी लाखों लोग हैं जो नये अन्धविश्वासों को क्षुधातुर हो निगलने के लिए दौड़ते हैं। तीन सौ वर्ष पूर्व संसार जितना अन्धविश्वासी था, आज उससे कम नहीं है। केवल पुरातन रूढ़ियों का स्थान नवीन रूढ़ियों ने ले लिया है। समस्त अन्धविश्वासों का मूल कारण यह है कि मनुष्य उस अज्ञात को जानना चाहता है, अनुभव करना चाहता है, जो मानवीय ज्ञान के परे है। उसे सन्देह होता है कि क्या यह संसार मूलतः युक्तिसंगत है? उसे दुःख होता है कि जिन वस्तुओं का वह अनुभव करता है उनकी कुछ ही बातों को मानवीय युक्तियाँ समझा पाती हैं। और इसलिए प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हताश हो वह ऐसी वस्तुओं के सामने घुटने टेक देता है जो युक्तिविरोधी हैं। परन्तु यह सत्य कि नवीन ज्ञान और अनुभूति के लिए मनुष्य की अविराम चेष्टा चल रही है, इस बात का द्योतक है कि मानवता मरी नहीं है तथा अस्तित्व-स्तर पर जीवन रुद्ध नहीं हुआ है। ज्ञान की समस्त अभीप्साएँ जीवन की प्रतीक हैं। जब तक यह आकांक्षा विद्यमान है तब तक यह आशा भी है कि किसी एक भविष्य में चाहे वह जितना भी सुदूर क्यों न हो लक्ष्य की प्राप्ति होगी ही। रात्रि चाहे जितनी अन्धकारमय हो, उषा की लाली अवश्य आयेगी।

आधुनिक जीवन की दुरूहताओं ने मनुष्य के जीवन को अत्यधिक दुःखमय बना दिया है। भौतिक दृष्टि से उसे बहुत सी सुख-सुविधाएँ उपलब्ध हैं जो दो सौ वर्ष पूर्व के लोगों को भी प्राप्त नहीं थीं, पर मानसिक रूप से उसके कष्ट गुणोत्तर श्रेणी में बढ़े हैं। मनुष्य अपेक्षाकृत अधिक संस्कारित हुआ है और इसलिए अधिक संवेदनशील भी हुआ है। फलस्वरूप अनेक समस्याएँ जो पहले बिलकुल अनजानी थीं उठ खड़ी हुई हैं। यह बात आधुनिक काल के साहित्य में बड़े स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हुई है। आजकल के उपन्यास और नाटकों में बड़े चरित्रों का चित्रण उतना नहीं किया जाता जितना मानसिक द्वन्द्वों का, जो कि मनुष्य के कष्टों का कारण हैं। मनोविज्ञान के निष्कर्ष जो निदान सुझाते हैं वे रोग से भी बदतर हैं क्योंकि वर्तमान समस्याओं का निदान सुझाने के प्रयास में वे नई समस्याओं को जन्म देते हैं। हताश मानव नहीं जान पाता कि वह

किधर जाय। वह कुछ आराम और शान्ति पाने के लिए सिनेमाघर और खेल के मैदानों में जाता है और साहसिकता के नाम पर जोखिम-भरे कार्यों से जूझता है। वह अपने को घर की चहारदीवारी में घिरे खरगोश की भाँति अनुभव करता है जो पीछा किये जाने पर भाग निकलने के प्रयास में अपने सिर को कठोर पत्थरों पर दे मारता है।

यद्यपि परिस्थिति नैराश्यमय है तथापि उसका आशापूर्ण पक्ष भी है और वह यह कि चूँकि मनुष्य का कष्ट अत्यन्त बढ़ा है अथवा बढ़ता जा रहा है, वह उसके प्रतिकार के लिए और भी उत्कटता से प्रयास करेगा। इसमें सन्देह नहीं कि अब तक के पाये गये समाधान निराशाजनक हैं परन्तु लगातार किया जानेवाला प्रयास कालान्तर में अवश्य ही फलप्रसू होगा।

समस्त आविष्कार और खोजें कुछ महती आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुई हैं। आध्यात्मिक चीजों के सम्बन्ध में भी यह बात सत्य है। धर्म की उत्पत्ति संसार और सांसारिक वस्तुओं के सम्बन्ध में नैराश्यमय दृष्टिकोण के फलस्वरूप होती है परन्तु उसका अन्त एक ऐसे समाधान की प्राप्ति में होता है जो प्रत्येक वस्तु का, यहाँ तक कि सांसारिक वस्तुओं का भी अभिनव अर्थ प्रस्तुत करता है। बुद्ध ने संसार का त्याग किया था क्योंकि उन्होंने उसे दुःखमय पाया था परन्तु उनकी सत्य की खोज ने लाखों दुःखी आत्माओं को विशुद्ध आनन्द प्रदान किया।

मनुष्य कष्ट क्यों पाता है? समस्त दुःखों का मूल कारण क्या है?– ये प्रश्न अनादिकाल से चले आ रहे हैं। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा था, "किससे बलात् प्रेरित हो मनुष्य बुरे कर्मों में प्रवृत्त होता है और दुःख पाता है?" इसके उत्तर में गीता के रूप में हमें अमर सन्देश प्राप्त हुआ जो कि मानवता की एक अमूल्य निधि है। और भी अधिक पुरा काल में, उपनिषदों में हम उसी प्रश्न को उठाया गया देखते हैं, जहाँ शिष्य पूछता है, "किससे प्रेरित हो मन विषयों की ओर दौड़ता है, प्राण अपना कार्य करता है तथा वागिन्द्रिय शब्दों का उच्चारण करती है? वह कौन सी वस्तु है जो आँखों को देखने और कानों को सुनने के लिए प्रेरित करती है?" हाँ, यह एक बड़ी समस्या है। हम अनुभव करते हैं कि हम मन को प्रेरित नहीं करते, पर मन ही अन्य किसी के निर्देशन पर हमें प्रेरित करता है। हम

ऐसे शब्द उच्चारित करते हैं जिन्हें हम स्वेच्छापूर्वक बोलना नहीं चाहेंगे। हम ऐसी चीजें देखते हैं जिन्हें हम नहीं देखना चाहेंगे। इन सबका कारण यह है कि हमारा अपनी इन्द्रियों पर कोई नियन्त्रण नहीं है। हमारी इन्द्रियाँ ही हमें धोखा देती हैं। शत्रु हमारे घर में ही छिपा हुआ है। यह वास्तव में अत्यन्त दयनीय स्थिति है। अतः खोज प्रारम्भ हुई और जब तक रहस्योद्घाटन नहीं हो गया, अन्वेषण जारी रहा। उपनिषद् के मनीषियों ने कहा, ''जिसे वाणी प्रकट नहीं कर सकती पर जो वागिन्द्रिय की प्रेरकशक्ति है, उसे ब्रह्म जानो। वही तुम्हारी आराधना का यथार्थ विषय है। जिसे मन सोच नहीं सकता, आँखे देख नहीं सकतीं, कान सुन नहीं सकते परन्तु जो मन के सोचने का, आँखों के देखने का, कानों के सुनने का प्रेरक है, वही ब्रह्म है, वही तुम्हारी आराधना का यथार्थ विषय है।''

जो ब्रह्म को जान लेता है वह धन्य हो जाता है और जो ब्रह्म को नहीं जान पाता वह दु:ख पाता है।

यही सत्य का सार है। व्यक्ति को उसे जानना होगा जो नश्वर के परे अविनाशी है, जो अनित्य के परे नित्य है, जो असत्य के परे सत्य है तथा जो मन और वाणी के परे है।

मनस्तत्त्व का विज्ञान अर्थात् पाश्चात्य मनोविज्ञान अभी भी अपनी शैशवावस्था में है। कोई भी यथोचित रूप से आशा कर सकता है कि भविष्य में वह दिन बहुत अधिक दूर नहीं है जब मन के अध्ययन में लगे रहने का परिणाम उस तत्त्व की उपलब्धि में होगा जो मन से परे है। यह अन्वेषण ही धर्म कहलाता है।

धर्म क्या है?

धर्म सदा से बड़े विवाद का विषय रहा है। परन्तु हाल में यह विवाद बहुत अधिक बढ़ गया है। कुछ का कथन है कि धर्म जीवन की समस्त बुराइयों का मूल है। कुछ के अनुसार धर्म से कोई उपयोगी कार्य सिद्ध नहीं होता। यह जनता के लिए अफीम है। जनता के शोषण के लिए, उसे अपनी मुट्ठी में रखने के लिए यह उच्चवर्गियों के हाथ का औजार है। जो लोग खुले-आम चर्चा किया करते हैं उनमें अधिकांश ऐसे लोग होते हैं जो धर्म के पक्ष की अपेक्षा विपक्ष में बोलते हैं। उनमें कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपने व्यवहार में आक्रामक होते हैं तथा धर्म को पूरी तरह से दबाना अथवा कुचल देना चाहते हैं। फिर भी धर्म जीवित है। वह अपना रंग बदल रहा है, नया रूप धारण कर रहा है। वह मरा नहीं है और न ही वह मर सकता है।

किसी भी विवाद में, प्रयोग में लाये जानेवाले शब्दों की परिभाषा के सम्बन्ध में व्यक्ति को विशेष सावधान रहना चाहिए, अन्यथा किसी निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव नहीं होगा। कभी कभी दो विरोधी पक्षों में किसी विषय पर बातचीत, तर्क-वितर्क तथा वाद-विवाद होता है और किसी बात में गरमागरमी भी होती है। पर वे एक दूसरे के शब्दों पर गहराई से ध्यान नहीं देते। परिणाम यह होता है कि वे किसी निर्णायक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते। यदि यह बात अन्य विषयों के सम्बन्ध में सही हो तो धर्म के सम्बन्ध में तो और भी सही है। अतः यह ज्ञात करने के लिए कि क्या धर्म वर्तमान आक्रमण से बच पायेगा तथा यह कि क्या वह अपने विश्वासों के प्रति मिथ्या प्रमाणित हुआ है, हमारे लिए जानना आवश्यक है कि धर्म से हम क्या समझते हैं।

प्रत्येक विशिष्ट धर्म अपने ही तरीके से, अपने सिद्धान्तों और मतों के अनुसार, धर्म की व्याख्या करता है। परन्तु ऐसी व्याख्या अधिक हुआ तो धर्म के आंशिक रूप को ही दर्शा पाती है। और स्वाभाविक ही वह यथार्थ धर्म नहीं है। धर्म के सम्बन्ध में ईसाई धर्म एक बात कहता है तो इसलाम दूसरी, फिर बौद्ध धर्म उसकी अलग ही व्याख्या करता है तथा

हिन्दू धर्म का उसके प्रति अपना अलग ही विचार है। परिणाम यह होता है कि जिनकी धर्म के प्रति रुचि बहुत कम होती है अथवा बिल्कुल नहीं होती वे इससे बड़े आतंकित हो जाते हैं तथा अपने आपको हर किसी धर्म से एक सुरक्षित दूरी पर बनाये रखना चाहते हैं।

कुछ वस्तुओं से हम इतने अधिक परिचित होते हैं कि उनकी व्याख्या करना अत्यन्त कठिन होता है। हम उन्हें देखते हैं तथा उनका अनुभव करते हैं परन्तु निश्चित शब्दों में तथा यथार्थता की किसी माप के साथ यह नहीं कह सकते कि वे क्या हैं। धर्म एक ऐसी ही वस्तु है। धर्म मनुष्य की मुक्ति की आभ्यन्तर आकांक्षा का परिणाम है, वह उसकी अनन्त के प्रति प्रचण्ड भूख की बाह्य अभिव्यक्ति है। विभिन्न धर्म इस संघर्ष के विभिन्न पहलुओं को दर्शाते हैं, परन्तु सारी मानवता, जाने अथवा अनजाने, उस लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रही है जो धर्म का गन्तव्य है। जीवन से कोई सन्तुष्ट नहीं है। यदि किसी को कोई वस्तु प्राप्त होती है तो वह तुरन्त दूसरी वस्तु की इच्छा करता है। वह परिस्थितिविशेष की चाहना करता है, यह सोचकर कि उसे उसमें सुख और आनन्द मिलेगा। पर ज्योंही उसे उसकी प्राप्ति होती है वह उसकी निस्सारता को देख पाता है और किसी अन्य वस्तु की इच्छा करने लगता है। इस तरह वह निरन्तर असन्तुष्ट और सतत दुःखी हो अनवरत संघर्षरत रहता है—यह किसके लिए, वह स्वयं नहीं जानता। संसार में यही उसका जीवन है। मानव-जीवन की यही बड़ी विशेषता है।

यह शाश्वत असन्तुष्टि दर्शाती है कि मनुष्य अनन्त स्वातन्त्र्य चाहता है। वह अधिक, तथा और भी अधिक की चाहना करता है। वह उस अवस्था को छोड़ जिसके परे कुछ भी चाहना बाकी नहीं रहता, किसी कम वस्तु से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य यह है कि वह अनन्त को प्राप्त करना चाहता है। परन्तु मनुष्य प्रायः इस अनन्तत्व की खोज सान्त जगत् में करता है और चूँकि यह असम्भव है इसलिए दुःख पाता है। जो अनुभवी तथा बुद्धिमान् हैं वे सहजता से सान्त जगत् में अनन्तत्व की खोज की भूल को देख पाते हैं और सामान्य लोगों द्वारा अपनायी गयी दिशा से भिन्न दिशा की ओर मुड़ जाते हैं। यही सही अर्थों में धर्म है। परन्तु फिर भी उन लोगों को जो भौतिक जगत् में शाश्वत सुख पाने की

चेष्टा कर रहे हैं, अधार्मिक नहीं कहा जाना चाहिए क्योंकि वे भी क्या अनन्त की खोज ही नहीं कर रहे हैं? हो सकता है उन्हें सही दिशा न मिली हो, परन्तु वे भी उसी लक्ष्य की ओर, भले अनजाने में ही हो, बढ़ रहे हैं। अनन्तत्व की खोज मनुष्य के मूलभूत स्वभाव में है। भले वह जाग्रत् हो अथवा सुप्त, पर है अवश्य। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि धर्म को दबाया जा सकता है, अथवा धर्म नाश को प्राप्त हो रहा है, या कि लोग अधार्मिक होते जा रहे हैं। जो धर्म का, अर्थात् कट्टर अथवा साम्प्रदायिक धर्म का बड़ी तीव्रता से प्रतिवाद करते हैं, वे भी कम धार्मिक नहीं हैं; क्योंकि वे कट्टर गिरजाघरों तथा धार्मिक संस्थाओं के खोखलेपन को देख पाते हैं। और जब तथाकथित धार्मिक लोग रूढ़िगत सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कुछ भी कहने में घबराते हैं, ये लोग जो देखते और अनुभव करते हैं उसे सचाई के साथ खुले-आम बोलने का साहस रखते हैं। यह हो सकता है कि वे चीजों को गहराई से देखने अथवा सही निष्कर्षों पर पहुँचने में समर्थ न हुए हों, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो लोग धर्मविरोधी बातें करते हैं उनमें से कुछ धर्म के क्षेत्र में अग्रणी होने की पर्याप्त दृढ़ता और सच्चाई रखते हैं।

उपनिषद् कहता है, "परमानन्द से जगत् की उत्पत्ति हुई है, परमानन्द में जगत् स्थित रहता है और अन्त में जगत् परमानन्द में ही लय को प्राप्त होता है।" इस दृष्टिकोण से पक्का से पक्का नास्तिक भी धर्म की परिधि के बाहर नहीं है; क्योंकि अन्ततोगत्वा प्रत्येक व्यक्ति उस परमानन्द में लीन होगा, तथा प्रत्येक व्यक्ति अपने दैनन्दिन जीवन में उस आनन्द में ही स्थित रहता है।

इस प्रकार बहुत से लोग अनजाने में ही धार्मिक हो सकते हैं। परन्तु धर्म का सामान्य रूप से तात्पर्य है—लक्ष्य की ओर पहुँचने का विवेकपूर्ण सचेतन प्रयास जिसके बिना लक्ष्य की प्राप्ति बहुत लम्बे समय के बाद होगी। धर्म का तात्पर्य है—वर्तमान एक जीवन में ही अनेक जीवनों को निचोड़ लेना। सच्चे धार्मिक व्यक्ति को जरा भी विलम्ब सह्य नहीं होता। वह लक्ष्य को यहीं और अभी प्राप्त करना चाहता है। और इसलिए वह सामान्य लोगों से भिन्न होता है। वह विचित्र-सा लगता है तथा उसका

जीवन के प्रति दृष्टिकोण, उसके आदर्शों के प्रति सहानुभूति रखनेवाले लोगों के अतिरिक्त, अन्य सभी के लिए अबोधगम्य होता है।

प्रश्न जागता है कि मनुष्य इस भौतिक जगत् में चिर आनन्द क्यों नहीं पा सकता तथा अनन्त को प्राप्त करने के लिए सान्त की सीमा के परे कैसे जा सकता है? यह सत्य है कि कुछ अपवादों को छोड़ मनुष्य सुखी नहीं है। उसे शाश्वत आनन्द का सुराग नहीं मिल पाया है। यह भले निराशावाद-जैसा प्रतीत हो, पर यह सत्य है। प्रत्येक व्यक्ति अपने हृदय के अन्तरंग में जानता है कि यह कितना सत्य है। जीवन में यदि हमारा सुख समान्तर श्रेणी में बढ़ता है तो दुःख की वृद्धि समगुणोत्तर श्रेणी में होती है, मानों जैसे गुड़ में सब समय रेत मिली हो। हमारी शान्ति और सुख में विघ्न उपस्थित करने के लिए हमेशा कुछ न कुछ वस्तु विद्यमान रहती है। मनुष्य हजारों वर्षों से इस संसार में रह रहा है परन्तु संसार की अवस्था ऐसी है कि कोई अपने जीवन में सुरक्षित और निश्चिन्त नहीं है। एक धनी मनुष्य जीवन के समस्त सुख-भोगों का आनन्द उठाता है और वह वस्तु के अभाव के बदले उसके आधिक्य से दुःख पाता है। फिर महायुद्ध होता है। तब उसकी अवस्था गरीब से गरीबतर हो सकती है। आधुनिक जीवन की सुख-सुविधाएँ अत्यधिक हैं। मनुष्य का जीवन सुखी और आनन्दमय बनाने के लिए विज्ञान द्वारा आश्चर्यजनक आविष्कार हुए हैं और हो रहे हैं। परन्तु प्रत्येक आविष्कार ने ऐसी समस्या को जन्म दिया है जिसका समाधान ढूँढ निकालना संसार के लिए दुष्कर है। अतः जो यह स्वीकार नहीं करता कि मनुष्य दुःख और कष्ट में है वह यथार्थता को नकारकर कठोर सत्य की उपेक्षा करता है।

इस चरम विश्लेषण से मनुष्य के दुःखों का कारण क्या निकला? —यह कि सुख और दुःख केवल मन की अवस्थाएँ हैं। वह मन ही है जो मनुष्य को सुखी अथवा दुःखी बनाता है। मनुष्य ने स्वयं को अपने शरीर और मन के साथ एकरूप कर रखा है। चूँकि शरीर और मन दोनों अस्थायी हैं, इसलिए व्यक्ति कष्ट पाता है। शरीर आज ठीक है पर कल वह नष्ट हो जायेगा, और मन की अवस्था तो हर क्षण बदलती है। वह अदम्य घोड़े की भाँति चंचल और दुर्दान्त है। जब तक व्यक्ति अपने

आनन्द के लिए मन पर निर्भर करता है वह दुःख पायेगा ही। यदि कोई शाश्वत शान्ति पाना चाहता है तो उसे मन की सीमा के परे जाना होगा।

मनुष्य मन के परे जा सकता है यह बात भले काल्पनिक न लगे पर सैद्धान्तिक तो जरूर लगती है। मन के परे की अवस्था क्या है इसकी धारणा कर पाना भी कठिन है। प्रश्न होता है कि जिसे मनुष्य शरीर और मनश्चेतना के परे पाता है, क्या वह नाश की स्थिति नहीं है ? वह चाहे जो भी हो, पर वह एक ऐसी अवस्था है जो देह और मन के परे है। मानवता के इतिहास में केवल वे ही जिन्होंने यथार्थ और शाश्वत शान्ति-लाभ किया है इस अवस्था तक पहुँचे हैं। साधारण मनुष्य के लिए इसे समझ पाना कठिन है। जो हो, मनीषियों ने उस अतिचेतना की स्थिति की अनुभूति की है तथा उनकी अनुभूतियाँ सत्य और निर्विवाद थीं, यह इस तथ्य से सिद्ध हो जाता है कि उनमें से प्रत्येक व्यक्ति ने मानवसमाज के जीवन पर महान् प्रभाव विस्तारित किया है तथा उनका प्रभाव अभी भी कार्य कर रहा है।

फिर उन व्यक्तियों ने भी कुछ अंशों में विशुद्ध शान्ति की उपलब्धि की है जो चरम लक्ष्य तक तो नहीं पहुँच पाये हैं, फिर भी उस दिशा में पर्याप्त मार्ग तय कर चुके हैं। ऐसे लोग भी आनन्द और धन्यता विकिरित करते हैं तथा जो उनके प्रभाव में आते हैं, उनकी अनुभूतियों से लाभान्वित होते हैं। शंकालु तथा आलोचक मन को यह बात भले ही समस्यामूलक अथवा अविश्वसनीय लगे, पर जो व्यक्ति ऐसी दुर्लभ आत्माओं के सीधे संस्पर्श में आये हैं वे उनकी अनुभूतियों पर प्रश्न नहीं उठायेंगे, क्योंकि उन्हें प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण अकाट्य सबूत देता है। हम दूर से किसी वस्तु के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के सम्बन्ध में विवेचना और जल्पना कर सकते हैं परन्तु जब हम उस वस्तु को अपनी आँखों के सामने देखते हैं तब हमारी समस्त शंकाएँ और प्रश्न समाधित हो जाते हैं।

कोई युक्तिपूर्वक कह सकता है, "हमें अतिचेतन, अलौकिक तथा पारलौकिक वस्तुओं के बारे में माथापच्ची की क्या आवश्यकता है जबकि हमें सक्रिय वर्तमान में बहुत कुछ करना बाकी है? हम विशुद्ध शान्ति अथवा मृत्योपरान्त शान्ति के बारे में चिन्ता क्यों करें जब हमारे

चतुर्दिक इतना कष्ट और दु:ख है? आओ, हम इन दु:खों को दूर करने के लिए जूझ पड़ें। बनिस्बत इसके कि हम संसार से स्वर्ग की उड़ान भरें, आओ, हम इस संसार में ही स्वर्ग उतार लाने के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति से प्रयास करें।'' यह बात कितनी न्यायोचित, युक्तिसंगत और वीरोचित प्रतीत होती है! परन्तु यह उपाय अनेक दिनों से आजमाया गया है। सामान्यतया संसार यही उपाय अपनाता है। पर परिणाम क्या हुआ है? वर्तमान संसार विच्छृंखलता की अवस्था में है और कोई नहीं जानता कि इस अव्यवस्था से सुश्रृंखलता कैसे लाई जाय।

जो धर्म का पथ अपनाते हैं वे किसी कल्पनालोक में विचरण के फलस्वरूप नहीं, वरन् एक आन्तरिक प्रेरणा के फलस्वरूप अपनाते हैं जिसे रोक पाना उनके लिए सम्भव नहीं होता। और एक दिन आता है जब वे चरम लक्ष्य को प्राप्त कर मांनवता के लिए आदर्शस्वरूप हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति अत्यन्त सूक्ष्ममना होते हैं तथा वे किसी भौतिक लाभ के स्वार्थपूर्ण विचारों की अपेक्षा सपनों और आदर्शों के द्वारा अधिक परिचालित होते हैं। वे अपने आदर्श और प्रेरणा की वेदी पर अपनी सांसारिक पदवियों का संकल्प के साथ तिलांजलि दे सकते हैं। वे स्वेच्छा से अपना घर फूँककर उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए निकल पड़ते हैं जिसका संसारी बुद्धिवालों के लिए कोई नूल्य नहीं। ऐसे ही लोग कवि, वैज्ञानिक, अन्वेषक और गवेषक हुए हैं, जिन्होंने मानवता के इतिहास पर अपनी अमिट छाप डाली है तथा मानवता के अग्रसर होने के नये पथों को आलोकित करके रखा है। पर इन सबसे बढ़कर वे लोग हैं जिनकी भूख अनन्त के लिए है तथा उसके सिवाय अन्य किसी वस्तु से उन्हें सन्तुष्टि नहीं मिल पाती।

मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी प्रेरणा है—उसका मुक्ति के प्रति प्रेम अथवा अनन्तत्व की चाहना। प्रारम्भ में वह उसके बारे में कुछ कम सचेत रहता है। परन्तु वह अपनी इस सहजात किन्तु अचेतन आकांक्षा से प्रेरित हो तब तक आगे बढ़ता जाता है जब तक उसका आदर्श एक निश्चित रूप धारण नहीं कर लेता अथवा लक्ष्य एक सचेतन प्रयास की वस्तु नहीं बन जाता।

यह देखना रुचिकर होगा कि यह एक ही तीव्र आकांक्षा चरम लक्ष्य

को प्राप्त करने के लिए कैसे विभिन्न पथ अपनाती है अथवा अभिव्यक्ति के लिए कैसे विभिन्न रूप ग्रहण करती है। तरीकों अथवा पथों का यह अन्तर व्यक्तिविशेष की प्रकृति पर निर्भर करता है। कोई बहुत कर्मठ हो सकता है, उसे कार्य करना अच्छा लगता है। दूसरों की सेवा में उसे आनन्द मिलता है। उसके जीवन का सबसे बड़ा आनन्द दूसरों की सहायता करने में है। वह हर क्षण दूसरों के लिए अपने स्वयं के स्वार्थ को त्यागने के लिए प्रस्तुत रहता है। वह सम्पूर्ण मानवता से प्यार करता है। उसकी दृष्टि में कोई छोटा-बड़ा नहीं। जो भी उसके सम्पर्क में आता है वह उसकी सेवा के लिए सदैव तत्पर रहता है। जैसे जैसे वह इस पथ पर अग्रसर होता है, दूसरों की सेवा करने की उसकी प्रवृत्ति क्रमशः बलवती होती जाती है, यहाँ तक कि उसका जीवन सम्पूर्ण त्यागमय हो जाता है। उसके स्वयं का कोई स्वार्थ नहीं होता और इसलिए वह अहंकारशून्य हो जाता है। और जिस व्यक्ति में कोई अहंकार नहीं रह जाता, सारा संसार उसके चरणों में नत होता है। हम संसार से डरते हैं तथा अमंगलकारक परिस्थितियों से घबराते हैं क्योंकि सेवा और संरक्षण में हमारा कुछ निजी स्वार्थ होता है। जिसमें कोई स्वार्थ नहीं, उसके भयभीत होने की कोई बात नहीं। उसने तो मुक्ति लाभ कर ली। वह जीवन्मुक्त हो गया। हिन्दू शास्त्रों के मतानुसार, उसने कर्मयोग के माध्यम से पूर्णता अर्जित कर ली। भले ही हम ऐसे किसी व्यक्ति के सम्पर्क में न आये हों जो सर्वोच्च पूर्णता को पहुँच गया हो, परन्तु अपने दैनन्दिन जीवन में हम बहुत से ऐसे व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं जिनका असामान्य आत्मत्याग हमें उनके प्रति श्रद्धाभिभूत कर देता है। अब यदि हमें एक ऐसा व्यक्ति मिल जाता है जिसका जीवन अप्रतिम त्याग का ज्वलन्त उदाहरण हो, तो हम क्रमशः उच्च से उच्चतर आत्मत्याग से सम्पन्न व्यक्ति की कल्पना कर ले सकते हैं और अन्त में उस स्थिति की भी जहाँ सम्पूर्ण आत्मत्याग का आदर्श किसी दुर्लभ आत्मा में मूर्तमान् हो जाता हो। अतः हम यह नहीं कह सकते कि कर्म अथवा आत्मत्याग के द्वारा पूर्णता को प्राप्त करने का भाव मात्र वैचारिक अथवा सैद्धान्तिक है।

कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो दार्शनिक स्वभाव के होते हैं। वे इतने सोच-विचार और चिन्तन में लगे रहते हैं कि उनमें कार्य करने के प्रति

तनिक भी अभिरुचि नहीं रह पाती। उन्हें लगता है कि संसार में सब कुछ क्षणिक और नाशवान् है, सब कुछ परिवर्तनशील है। फिर सबसे बड़ी चीज है—मृत्यु। मित्र और स्वजन सब उसके कराल गाल में समा जाते हैं। किसी से प्रेम करने में भय लगता है, पता नहीं मृत्यु कब उसे खींच ले और वह सदा-सर्वदा के लिए इस संसार से बिदा हो जाय! अपने आनन्द के लिए ऐसी वस्तुओं पर आश्रित रहने से क्या लाभ जो नश्वर हैं? अतः दार्शनिक स्वभाववाला व्यक्ति उन समस्त वस्तुओं को त्याग देता है जो नाशवान् हैं। वह वेदान्त द्वारा प्रतिपादित 'नेति' 'नेति' के पथ का अनुसरण करता है। इस त्याग की पद्धति के द्वारा वह उस तत्त्व को प्राप्त कर लेता है जो नित्य, शाश्वत और अपरिवर्तनशील है। उस अवस्था को पहुँचकर वह यथार्थ मुक्ति का लाभ करता है; क्योंकि उसने उस तत्त्व की उपलब्धि कर ली जिसे आग जला नहीं सकती, पानी गीला नहीं कर सकता, यहाँ तक कि काल भी उसका नाश नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्ति के लिए कहा जाता है कि उसने ज्ञानयोग के माध्यम से लक्ष्य की उपलब्धि की है।

फिर कुछ ऐसे लोग होते हैं जो अत्यन्त अन्तर्मुखी और आत्म-विश्लेषक स्वभाव के होते हैं। वे देखते हैं कि सभी लोग सुख के पीछे भाग रहे हैं पर सुख है कि किसी के हाथ नहीं लगता! सुख प्रवहमान वायु के समान दुर्ग्राह्य है। उसे पकड़ में नहीं लाया जा सकता। अतः ऐसा व्यक्ति मानव-जीवन के सुख-दुःख के कारण का विश्लेषण करना प्रारम्भ करता है। जब वह अपनी खोज में आगे बढ़ता है तो उसे ज्ञात होता है कि मन ही सुख और दुःख का कारण है। मनुष्य के सुख-दुःख में बाहरी तत्त्वों का बहुत कम हाथ है। जिस तरीके से मनुष्य बाह्य परिस्थितियों के साथ प्रतिक्रिया करता है, वही उसे सुख अथवा दुःख प्रदान करता है। अतः यथार्थ आनन्द पाने के लिए व्यक्ति को अपने मन पर ध्यान देना होगा। यदि व्यक्ति अपने मन को नियन्त्रित कर ले सके तो वह सारे संसार को नियन्त्रित कर ले सकता है, क्योंकि यह बाह्य जगत् अपने मन के प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। और यदि तुमने सारे बाह्य जगत् पर नियन्त्रण पा लिया तो वह तुम्हारे आनन्द को बाधित नहीं कर सकता और न ही तुम्हारे आन्तरिक जीवन को प्रभावित कर सकता है। पर अपने मन को नियन्त्रित कैसे करें? अनुभव दर्शाता है कि

ध्यान और चिन्तन के माध्यम से यह साधित हो सकता है। मन एक चंचल बन्दर के समान है। वह सब समय उछलकूद मचाये रहता है। यदि उसे नियन्त्रित करने की कोशिश की जाय तो वह और भी विद्रोह करता है तथा बेकाबू हो उठता है। उसे वश में लाने और एकाग्र करने का एकमात्र उपाय है–गहन मनन, चिन्तन और ध्यान। जिस क्षण मन एकाग्र होता है, उसी क्षण जगत् के मूल आधार में तुम पहुँच जाते हो और तब संसार और स्वर्ग का रहस्य तुम्हारे सम्मुख उद्घाटित हो जाता है। जब तुम उस ज्ञान को अर्जित कर लेते हो तब स्वयं के स्वामी बन जाते हो। तब तुम सब प्रकार के सांसारिक प्रभावों की पहुँच के परे चले जाते हो और यथार्थ मुक्ति का लाभ कर लेते हो।

मानव-जीवन का एक दूसरा पहलू भी है जो व्यक्ति को इस दृश्यमान जगत् के परे किसी अस्तित्व के सम्बन्ध में सोचने के लिए मजबूर करता है। मनुष्य को लगता है कि वह परिस्थितियों के सामने असहाय है। वह कभी कभी परिस्थितियों के विरुद्ध कार्य करने में असफल होता है। कभी कभी परिस्थितियों के विरोध में उसकी समस्त गणनाएँ, युक्तियाँ और योजनाएँ एक किनारे धरी रह जाती हैं। उसे अनुभव होता है जैसे कोई अदृश्य हाथ उसके भाग्य के निर्माण के पीछे कार्यरत है। उसे लगता है कि जो कुछ भी वह चाहता है अथवा करने की सोचता है, उसके लिए वह स्वतन्त्र नहीं है। नेपोलियन असफल होता है, कैसर का अहंकार चूर्ण होता है तथा हिटलर धूल में मिल जाता है। अतः मानवीय दम्भ का कोई मूल्य नहीं है। कोई एक अदृश्य शक्ति है जिसकी मौन अनुमति पर हम जीते, रहते और कार्य करते हैं। उसकी इच्छा बिना हम एक कदम भी नहीं रख सकते। इसलिए मनुष्य अनजाने में और कभी कभी अपनी इच्छा के विरुद्ध भी उस शक्ति के सम्मुख सहायता, सम्बल और मार्गदर्शन हेतु प्रार्थनारत होता है। मनुष्य शीघ्र ही अनुभव करता है कि यथार्थ आनन्द इसमें है कि वह अपनी स्वयं की कोई अलग आकांक्षा न रखते हुए उस महान् शक्ति की कार्ययोजना के साथ तद्रूपता स्थापित कर ले। यह संसार उस महान् कलाकार की सर्जक प्रेरणा की परिणति है, जो अपनी सृष्टि के पीछे विद्यमान है। यह सोचना कि हम उसकी इच्छा के विरुद्ध जा सकते हैं, व्यर्थ है। हमें उसी हद तक स्वतन्त्रता प्राप्त है जो उसकी सर्जक

प्रणाली के अनुकूल है। परन्तु इसका तात्पर्य क्या यह है कि हम सदा-सर्वदा के गुलाम हैं तथा हमारा पृथक् कोई व्यक्तित्व नहीं है? नहीं, ऐसी बात नहीं, हमें यथार्थ व्यक्तित्व तो तब उपलब्ध होता है जब हम उसके साथ तद्रूपता लाभ करते हैं। उसी में हमारी आशा, आनन्द और शक्ति सन्निहित है। जिस क्षण हम अपने को उससे पृथक् देखने का प्रयास करते हैं, हम ठोकर खाते हैं और कष्ट पाते हैं। एक तालाब एक नदी की धारा से पृथक् है, जो इठलाती हुई समुद्र तक अपना मार्ग तय करती है। और चूँकि वह पृथक् है इस कारण उसका जल अवरुद्ध होकर सड़ जाता है। पर जब एक बार उसका संयोग नदी की बहती धारा से हो जाता है तो वह पुनः जी उठता है तथा नवजीवन लाभ करता है। जिस क्षण हम अपनी वैयक्तिक इच्छा का परित्याग करते हैं, हम अभेद्य बन जाते हैं, महान् शक्ति के उत्तराधिकारी बन जाते हैं और दृढ़तासम्पन्न हो यथार्थ मुक्ति का आस्वादन करते हैं। हमें शीघ्र ही विदित हो जाता है कि जिस महान् शक्ति की हम चर्चा कर रहे हैं वह केवल बाहर ही नहीं, हमारे भीतर भी है। जिस वस्तु की हम बाहर पूजाकर रहे हैं वह हमारे भीतर अवस्थित है। जिस ईश्वर की तुम पूजा करते हो वह तुम्हारे भीतर ही है। इसे ही हिन्दू शास्त्रों के अनुसार भक्ति का मार्ग अथवा भक्तियोग कहा गया है।

यह ज्ञात होगा कि संसार के समस्त धर्म उपर्युक्त वर्णित एक या दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। धर्म ने मनुष्य को उत्पन्न नहीं किया वरन् मनुष्य ने धर्म को उत्पन्न किया है। या यों कहें कि मनुष्य ने अपनी आन्तरिक प्रेरणा का अनुसरण किया और लक्ष्य की उपलब्धि की तथा संसार ने इस पथ का नाम 'धर्म' दिया। अतः धर्म मनुष्य के जीवन से कोई बाहर की वस्तु नहीं, वह उसके जीवन का अभिन्न अंग है। चूँकि धर्म के नाम पर बहुत सी बुराइयाँ प्रचलित हो गयी हैं, आधुनिक जगत् का मानव धर्म का नाम सुनकर ही घबरा जाता है। परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक मनुष्य अपने ही तरीके से धर्मपथ पर अग्रसर हो रहा है अर्थात् यथार्थ मुक्ति को, अक्षय सुख को, उस आनन्द को जो समस्त जागतिक सीमाओं से परे है, पाने का प्रयास कर रहा है। सेण्ट पाल ने कहा है, ''जिस ईश्वर को तुम अनजाने में पूजते आये हो, मैं तुम्हें उसी का उपदेश देता हूँ।''

धर्म का भविष्य

यथार्थ धर्म क्या है, यह हमने पिछले अध्यायों में देखा है। धर्म की ऐसी धारणा के प्रकाश में हम धर्म के बिना वैसे ही नहीं जी सकते जैसे एक पौधा बिना प्रकाश और हवा के नहीं जी सकता। धर्म प्रत्येक व्यक्ति की चरम मुक्ति की दिशा में स्वाभाविक एवं स्वयंस्फूर्त प्रेरणा है। परन्तु चूँकि हर व्यक्ति दूसरे से प्रकृति में भिन्न है, इसलिए उसका धर्म दूसरे के धर्म से भिन्न होना स्वाभाविक है। जीवन के प्रति प्रत्येक मनुष्य का एक अपना दृष्टिकोण होता है तथा चरम लक्ष्य को पहुँचने का प्रत्येक का एक अपना ही मार्ग है। कठिनाई तब होती है जब हम लोगों के विशाल समूह को एक ही मार्ग पर, जिसे हम एक विशिष्ट धर्म के नाम से चिन्हित करते हैं, घसीटने का प्रयास करते हैं। संस्थागत अथवा धर्मान्तरण करनेवाले धर्म यही करना चाहते हैं। और जब उन्हें बाधा और विरोध का सामना करना पड़ता है तो वे हो-हल्ला मचाते हैं कि 'धर्म खतरे में है', 'धर्म मरणासन्न है', 'लोग धर्म के प्रति जरा भी ध्यान नहीं देते', आदि आदि। जैसा कि हमने इंगित किया है, धर्म मनुष्य की मूलभूत आवश्यकता है। वह कभी मर नहीं सकता, उसे रोका नहीं जा सकता; न कभी उसे उत्पन्न किया जा सकता है और न ही कभी उसे दबाया जा सकता है। मनुष्य की धार्मिक भावनाओं और दृष्टिकोणों को मोटे तौर पर चार विभागों में वर्गीकृत किया गया है। संसार के सारे धर्म इनमें से एक अथवा दूसरे विभाग के अन्तर्गत आ जाएँगे। दार्शनिक दृष्टि से उनमें भेद हो सकता है, उनके मत अलग हो सकते हैं पर तात्त्विक और मौलिक दृष्टि से संसार के धर्मों को इन विभागों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है।

लोग पूछते हैं, ''धर्म का भविष्य क्या होगा?'' आधुनिक मानव की धर्म के प्रति अभिरुचि जिस प्रकार म्रियमाण होती जा रही है उससे व्यक्ति को शंका होती है कि क्या धर्म अधिक दिनों तक टिक पायेगा? परन्तु हमारे सामने यह प्रश्न जागता ही नहीं। जब तक वे समस्याएँ जिन्होंने पुरातन मन को धर्म की ओर मुड़ने के लिए प्रेरित किया, खत्म नहीं हो जातीं, धर्म भी जीवित रहेगा। जब तक समस्याएँ रहेंगी, वे अपने

समाधान के लिए निश्चित रूप से दबाव डालेंगी। मौलिक रूप से मानवस्वभाव हमेशा एक–जैसा ही रहता है–पुरातन काल में जैसा था, आधुनिक समय में भी वैसा ही है। मानव-इतिहास के प्रारम्भिक दिनों की भाँति आज भी मनुष्य में अपने पड़ोसी को सहायता पहुँचाने की इच्छा का अनुभव होता है। मनुष्य को अपनी तथा अपने स्वजनों की मृत्यु की समस्या के सम्मुखीन होना पड़ता है; मन का अत्याचार उसे पीड़ित करता है। मनुष्य मानवीय समाधानों को चुनौती देनेवाली कठिनाइयों से त्राण पाने के लिए दैवी सहायता की याचना की बाध्यता को अनुभव करता है। बल्कि अब तो ये समस्याएँ और भी गुरुतर हो गयी हैं और इसलिए उनके समाधान की आवश्यकता भी अधिक तीव्र हो उठी है। आजकल संसार के एक कोने में अवस्थित लोगों के कष्टों का समाचार संचार-यन्त्रों के माध्यम से हमें शीघ्र ही मिल जाता है। अमेरिका में रहनेवाला हृदयवान् व्यक्ति चीन के दुर्भिक्ष की खबर सुन दुःख से पीड़ित हो उठता है। और क्या हम कह सकते हैं कि अब सहृदय व्यक्तियों का एकबारगी अभाव हो गया है? कतई नहीं। संसार अभी इतना निकृष्ट नहीं हुआ है। क्या हम शोषणकारी देशों में ही ऐसे व्यक्ति नहीं पाते जो उसी साम्राज्यवाद के विरुद्ध जो उनके लिए उत्तम सुख-सुविधा जुटाता है, नारे लगाने में पीछे नहीं रहते? वे जानते हैं कि उनके इन सफल विरोधों का युक्तियुक्त परिणाम यह होगा कि उनकी सुख-सुविधा समान रूप से दुःखी राष्ट्रों में बँट जायेगी। वे इसके लिए प्रस्तुत हैं क्योंकि वे त्याग की भावना से पूर्ण हैं। इस संसार में भी जहाँ स्वार्थ, लोभ और कृपणता का साम्राज्य है, निःस्वार्थता और आत्मत्याग के दृष्टान्त एकबारगी शून्य नहीं हैं। यदि कोई इन उदात्त गुणों का विकास करे तो उसके लिए मानव-जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव है। एक महान् सन्त का कथन है कि जो पूर्णरूपेण निःस्वार्थी बन सकता है, वह सत्य की उपलब्धि करेगा।

इसी प्रकार मनुष्य आज भी मन के उत्पीड़न का उतना ही शिकार है जितना कई सदियों पहले था। बल्कि आधुनिक सभ्यता की जटिलताओं ने उसे अपने पूर्वजों की अपेक्षा और भी अधिक कष्टभोगी बना दिया है। मनुष्य अब अधिक संवेदनशील हुआ है। उसके जीवन की मनोवैज्ञानिक समस्याएँ और भी उग्र हुई हैं, यहाँ तक कि पागलपन के शिकार लोगों

का प्रतिशत तेजी से बढ़ती पर है। यही कारण है कि बहुत से लोग इन समस्याओं के समाधान के लिए उत्कण्ठित हैं। हो सकता है कि वे अन्ततोगत्वा यह खोज पाने में समर्थ हों कि सारी समस्या उस केन्द्रीभूत तत्त्व—मन—पर आधारित है तथा वे मन को नियन्त्रित करने की कला का पता लगाने तथा उसका अभ्यास भी कर पाने में सफल हों। यदि वे मन को पूर्णरूपेण संयमित कर सके तो वे सत्य की अनुभूति कर लेंगे।

अब जरा इसी समस्या को एक दूसरे पहलू से देखें। आज जब ज्ञान और विज्ञान ने मनुष्य के हाथों अपरिमित शक्ति धर दी है तो क्या वह जैसा चाहे कर सकता है? क्या उसे अब भी परिस्थितियों के धक्के खाने नहीं पड़ते? क्या वह कभी कभी अपने को असहाय—नितान्त असहाय अनुभव नहीं करता? —इतना असहाय कि किसी लौकिक अथवा अलौकिक शक्ति से सहायता प्राप्ति हेतु क्या लालायित नहीं हो उठता? यह किसी दुर्बलता की स्वीकारोक्ति नहीं परन्तु एक अकाट्य सत्य की विवृति है। जब किसी का प्रिय आत्मीय मृत्यु-शैय्या पर पड़ा हो और सभी प्रकार की चिकित्सा तथा मानवीय सहायता व्यर्थ सिद्ध हुई हो तो व्यक्ति स्वयं से पूछ बैठता है, "क्या कोई ऐसी दृश्य अथवा अदृश्य शक्ति नहीं है जो मेरी सहायता को आये?"

परन्तु सांसारिक वस्तुओं के लिए ईश्वरीय सहायता चाहना धार्मिक प्रेरणा का एक स्थूल रूप ही है। केवल दुर्बल लोग इसका सहारा लेते हैं। परन्तु कुछ ऐसे साहसिक व्यक्ति होते हैं जिनकी प्रार्थना बिल्कुल कामनाशून्य होती है। वे किसी वस्तुविशेष के लिए ईश्वर से प्रार्थना नहीं करते। उनका ईश्वर के प्रति प्रेम केवल प्रेम के लिए होता है। वे सृष्टि की भव्यता को, विश्व के आश्चर्यमय स्वरूप को देखते हैं। प्रकृति के पीछे स्थित सुश्रृंखलता और क्रमबद्धता उन्हें आश्चर्य से भर देती है और वे सृष्टिकर्ता के प्रति सहज प्रेम से अभिभूत हो जाते हैं। ऐसा साहसिक व्यक्ति प्रेम और भक्ति की उस अन्तःप्रेरणा द्वारा परिचालित होता है जिसे रोक पाना उसके स्वयं के लिए सम्भव नहीं होता। तुम्हें भले ही उसकी भावुकता पर हँसी आये और उसके भावुक विचारों के पीछे युक्ति ढूँढ़ने में कठिनाई हो, परन्तु उसके स्वयं के लिए उसकी भावनाएँ यथार्थ हैं। वे उसे आनन्द देती हैं, शान्ति और शक्ति प्रदान करती हैं तथा

स्वार्थपूर्ण सांसारिकता की क्षुद्रता से उसे ऊपर उठा देती हैं। एक कलात्मक अभिरुचिवाला व्यक्ति प्रकृति के सौन्दर्य में आनन्द की अनुभूति करता है। सूर्योदय की मोहकता अथवा सूर्यास्त की भव्यता उसे इतना अधिक आनन्द प्रदान करती है कि वह उनके बदले अपनी सारी सांसारिक सम्पत्ति न्यौछावर करने प्रस्तुत हो जाता है। परन्तु दूसरे व्यक्ति की दृष्टि में जिसमें सूक्ष्म भावप्रवणता का अभाव है, यह व्यक्ति अगर पागल नहीं तो मूर्ख जरूर प्रतीत होगा। इसी प्रकार हम उस दिव्यात्मा द्वारा अनुभूत आनन्द और उत्फुल्लता की यथार्थता को अस्वीकार नहीं कर सकते। ईश्वर के प्रति उसका प्रेम तथा महान् सृष्टिकर्ता के प्रति उसकी श्रद्धा-भावना भले ही ऐसे व्यक्ति के सम्मुख अर्थहीन प्रतीत हो जो एक अलग प्रकार का स्वभाववाला हो अथवा जिसमें इन भावनाओं की प्रशंसा करने की क्षमता का अभाव हो, पर हम यह नहीं कह सकते कि यह ईश्वर-भक्त अथवा परम सृष्टिकर्ता का यह विश्वासी किसी प्रकार की आत्म-प्रवंचना का शिकार है; क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि ऐसे व्यक्ति का जीवन उसकी मुखर आलोचना करनेवालों के जीवन की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ होता है। नैतिक मूल्यों के मापदण्ड में यह व्यक्ति उन लोगों से बहुत अधिक उन्नत होता है जो यह मानते हैं कि यह दृश्यमान जगत् ही सब कुछ है और इसके परे कुछ भी नहीं।

यह संसार का सौभाग्य है कि ऐसे लोग जो जीवन और सृष्टि के मूल में ईश्वरीय शक्ति और संयोजना को देख पाते हैं, भले ही संख्या में अधिक न हों पर सम्पूर्णतः अप्राप्य नहीं हैं। और जब संसार स्थूल भौतिक विचारों से बुरी तरह दग्ध होता प्रतीत होगा तब ये ही लोग जीवन-अमृत को बचाकर रखेंगे।

यदि किसी से इस प्रश्न का एक निश्चित उत्तर देने को कहा जाय कि धर्म का भविष्य क्या होगा, तो उसके लिए कठिनाई अवश्य होगी। पर यह कुछ सीमा तक निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि संसार के किसी भी जीवनकाल में ऐसे व्यक्ति अवश्य पाये जायेंगे जो यदि दैवी नहीं तो उच्च अन्तःप्रेरणा द्वारा परिचालित होंगे तथा वे मानवता के उन्नयन-पथ पर वैजयन्ती फहरायेंगे। भले ही उनकी कथनी और करनी

धर्म की रूढ़िगत धारणाओं से भिन्न हो, परन्तु ये व्यक्ति उन लोगों की अपेक्षा यथार्थतः धार्मिक होंगे, जिन्होंने धार्मिकता का खिताब केवल इसलिए पाया है कि उन्होंने चर्च अथवा मन्दिर के कुछ अनुष्ठानों का कट्टरता के साथ पालन किया है। कभी कभी इन लोगों का पुरातन-पन्थियों से भयानक मतभेद होगा तथा यदा-कदा इनके कार्यकलापों की कटु आलोचना भी होगी। परन्तु ये ही वे लोग हैं जो धर्म के सारतत्त्व को पूरी तरह बचाकर रखेंगे। और भले ही ये किसी सम्प्रदायविशेष से सम्बन्धित न हों, इनमें से ही ऐसे लोग निकलेंगे जो धर्म के प्रतिष्ठाता होंगे। यह कहना कठिन है कि भविष्य के धर्म का स्वरूप क्या होगा। फिर भला वह कोई विशेष रूप धारण करे भी क्यों? पर यह निश्चित है कि सम्पूर्ण मानवता उस ईश्वर को भूल नहीं पायेगी जिसकी ओर सारे धर्म अंगुलिनिर्देश करते हैं। "जैसे सारी नदियाँ विभिन्न उद्गमों से निकल कर समुद्र की ओर बहती हैं, उसी प्रकार समस्त मानवी कार्यकलाप उसी एक लक्ष्य में परमोत्कर्ष पाते हैं।"



अद्वैत आश्रम

५ डिही इन्टाली रोड

कलकत्ता ७०० ०१४

मूल्य : ३.९०

Cover Engraved & Printed by Reproduction Syndicate, Calcutta 700006